

जैन-तर्क में अनुमान

डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा,

वाराणसी...

ज्ञान के प्रमाणों में प्रत्यक्ष के बाद अनुमान का ही स्थान है। परोक्ष प्रमाणों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय दर्शन में मात्र चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी शाखाओं ने इसे मान्यता दी है। मुनि नथमलजी के शब्दों में-- "अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित नियम के आधार पर यह उत्पन्न होता है।... तर्कशास्त्र के बीज का विकास अनुमानरूपी कल्पतरु के रूप में होता है।

'अनु' और 'मान' के मिलने से अनुमान शब्द बनता है। 'अनु' का अर्थ होता है 'पश्चात्', 'बाद' तथा 'मान' का अर्थ होता है 'ज्ञान'। इस प्रकार किसी पूर्व ज्ञान के बाद होने वाले ज्ञान को अनुमान कहते हैं। महर्षि गौतम ने इसीलिए कहा है-- 'तत्पूर्वकम्' तत्' से तात्पर्य है--प्रत्यक्ष ज्ञान। जो ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद उत्पन्न हो उसे अनुमान कहते हैं।

पहाड़ पर अग्नि है

क्योंकि पहाड़ पर धूम है

जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है

अमुक पहाड़ पर धूम है

इसलिए उस पहाड़ पर अग्नि है।

धूम के साथ अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान पहले से प्राप्त है और उसी आधार पर धूम को पहाड़ पर देखकर यह अनुमान किया जा रहा है कि वहाँ अग्नि भी है। अनुमान शब्द की यह व्युत्पत्ति दो रूपों में मानी जाती है--(१) अनुमिति: अनुमान् तथा (२) अनुमीयते अनेन अति इनुमानम्। प्रथम प्रक्रिया में अनुमान शब्द भाव रूप में अनुमिति प्रमाण के लिए आता है तथा द्वितीय प्रक्रिया में वह करण रूप में होता है और अनुमान प्रमाण के लिए आता है।

अंग्रेजी में अनुमान के लिए इन्फेरेन्स (Inference) शब्द आता है। इन्फर (Infer) से इन्फेरेन्स शब्द बनता है। इन्फर का अर्थ होता है--अनुमान करना, तर्क करना, निर्णय करना, निर्णय पर आना आदि। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान से समझा जाता

है--ज्ञात से अज्ञात की ओर जाना (To go From Known to Unknown)। अनुमान को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में ऐसा महत्व दिया गया है कि पूरे तर्कशास्त्र पर यही छाया हुआ है।

अनुमान के संबंध में एक समस्या उठ खड़ी होती है-- प्रत्यक्ष के अतिरिक्त स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि जितने भी ज्ञान हैं, वे सभी प्रत्यक्ष के बाद ही प्राप्त होते हैं, फिर भी इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से संबोधित किया जाता है। इन्हें भी अनुमान की संज्ञा क्यों नहीं दी जाती है? आखिर वह कौन सा पूर्व ज्ञान है जिसके कारण कुछ ज्ञान तो अनुमान की कोटि में रखे जाते हैं और अन्य के लिए विभिन्न नाम प्रस्तुत किए जाते हैं। वात्स्यायन ने अनुमान पर प्रकाश डालते हुए कहा है^१ - मितेन लिंगेन लिंगिनोऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमान्। अर्थात् प्रत्यक्ष से प्राप्त लिंग और लिंगी के ज्ञान के बाद जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे अनुमान कहते हैं। इससे इतनी जानकारी होती है कि लिंग-दर्शन और फिर लिंगी को समझना ही वह ज्ञान है जिससे अनुमान होता है वह ऐसा पूर्व ज्ञान है जिसके कारण अनुमान किया जाता है। यद्यपि जैनाचार्य वादिराज के द्वारा अनुमान प्रतिपादन से स्पष्ट होती है^२।

'अनु व्याप्तिनिर्णयस्य पश्चाद्भाविमानमनुमानम्।'

इसी के आधार पर डा. कोठिया ने कहा है--

यद्यपि पारम्पर्य से उन्हें (लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मरण तथा पक्षधर्मा-ज्ञान को) भी अनुमान का जनक माना जा सकता है पर अनुमान का अव्यवहित पूर्ववर्ती ज्ञान व्याप्तिनिश्चय ही है, क्योंकि उन्हें अव्यवहित उत्तरकाल में नियम से अनुमान आत्मलाभ करता है^३।

जैन परंपरा में प्रतिपादित अनुमान को अच्छी तरह समझने के लिए अन्य परंपराओं द्वारा विवेचित अनुमान को समझना भी उचित जान पड़ता है, क्योंकि इससे विषय को स्पष्टता प्राप्त होती है, तुलनात्मक दृष्टि से समानता-असमानता का बोध होता है। अतः पहले भारतीय दर्शन की जैनेतर शाखाओं की अनुमान की परिभाषा संबंधी मान्यताओं को देखें--

वैशेषिक - भारतीय दर्शन में सर्वप्रथम अनुमान की परिभाषा महर्षि कणाद के द्वारा वैशेषिक सूत्र में प्रस्तुत की गई है^६-अस्येदं कार्यकारणं संयोगिविरोधिसमवायि चेति लैङ्गिकम् अर्थात् कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी तथा समवायी लिङ्गों को देखने के बाद उनसे संबंधित जो ज्ञान होता है, उसे अनुमान कहते हैं।

न्याय - प्राचीन न्याय में महर्षि गौतम ने अनुमान को जिस रूप में परिभाषित किया है उसे अभी अनुमान के शब्दार्थ को समझते समय हम लोगों ने देखा है। नव्य न्याय के चिंतक गंगेश उपाध्याय ने लिखा है^७- तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः तत्करामनुमानं तच्च लिङ्गपरामर्शो न तु परामृश्यमानं लिङ्गमिति वक्ष्यते। जो ज्ञान व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता से उत्पन्न होता है, उसे अनुमिति कहते हैं तथा जो अनुमिति का कारण होता है, उसे अनुमान कहते हैं। अनुमान लिङ्ग विषयक परामर्श होता है, किन्तु वह परामृश्यमान लिङ्ग नहीं हो सकता।

सांख्य - महर्षि कपिल ने अनुमान का निरूपण करते हुए कहा है^८-

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्

प्रतिबन्ध दर्शन अर्थात् लिङ्ग को देखकर प्रतिबद्ध को जानना अनुमान है।

योग - योगसूत्र के भाष्यकार के अनुसार -- अनुमान करने योग्य वस्तु समान जातियों से युक्त करने वाला तथा भिन्न जातियों से पृथक् करने वाला जो संबंध है, तद्विषयक सामान्य रूप से निश्चय करने वाली प्रधान वृत्ति को अनुमान कहते हैं। जैसे-चन्द्रमा, तारागण आदि गतिशील हैं, देशान्तर की प्राप्ति होने से, चैत्र पुरुष के समान तथा देशान्तर प्राप्ति होने वाला न होने के कारण विन्ध्याचल पर्वत गतिमान नहीं है।

मीमांसा - मीमांसासूत्र पर भाष्य लिखते हुए शबर स्वामी ने कहा है^९ - अनुमानं ज्ञातसंबंधस्यैकदेशदर्शनादेक-देशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थेबुद्धिः।

अर्थात् ज्ञातसंबंध यानी व्याप्ति के संबंधियों में से एक को जान लेने के बाद दूसरे के असन्निकृष्ट अर्थ को जान लेना ही अनुमान है।

वेदान्त - वेदान्त-परिभाषा में कहा गया है^{१०} - अनुमिति कारणम् अनुमान्। अर्थात् अनुमिति का जो कारण है वह अनुमान

है। इसके अलावा यह भी कहा गया है कि उस व्याप्तिज्ञान से जो व्याप्तिज्ञानत्व धर्म से अविच्छिन्न है, उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति है^{११}।

बौद्ध - बौद्धाचार्य दिङ्नाग ने अनुमान पर प्रकाश डालते हुए कहा है^{१२} - नान्तरीयकार्थदर्शनं तद्विदोऽनुमानम् इति। अविनाभाव संबंध जो ज्ञात है उसके आधार पर नान्तरीयक अर्थ का दर्शन होना ही अनुमान है^{१३}। एक वस्तु का जब दूसरे के अभाव में भाव नहीं होता है, तब उनके संबंध को नान्तरीयक कहते हैं। धर्मकीर्ति ने बहुत ही सरल ढंग से अनुमान को परिभाषित किया है। उनके अनुसार धर्मों के संबंध में जो ज्ञान परोक्ष रूप से किसी संबंधी के धर्म के कारण होता है उसे अनुमान कहते हैं^{१४}।

पाश्चात्य तर्क

प्राचीनकाल के ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने तर्क की निगमन (Deductive) पद्धति पर अनुमान प्रतिष्ठित किया। आधुनिक युग के बुद्धिवादी तथा अनुभववादी दार्शनिकों ने क्रमशः निगमन तथा आगमन पद्धतियों को अपने-अपने चिंतन का आधार बनाया। काण्ट ने अपनी ज्ञानमीमांसा में दोनों पद्धतियों को समन्वित किया है। निगमन-पद्धति सामान्य से विशेष की ओर बढ़ती है तथा आगमन-पद्धति विशेषों के आधार पर सामान्य का निर्धारण करती है। आ^{१५} के वे दार्शनिक जो विज्ञान से प्रभावित हैं, आगमन पद्धति को ही अपनाते हैं। अनुमान के संबंध में प्रसिद्ध दार्शनिक मिल का विचार है^{१६} - अनुमान का मूल रूप है- एक विशिष्ट तथ्य से (या बहुत से विशिष्ट तथ्यों से) दूसरे विशिष्ट तथ्य (या तथ्यों) की ओर जाना। हम विशिष्ट तथ्यों के प्रेक्षण से प्रारंभ करते हैं, और तब प्रेक्षित एवं अप्रेक्षित तथ्यों को सम्मिलित करने वाला एक सामान्य कथन करते हैं।

प्रस्तुत परिभाषाओं के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि निम्नलिखित स्थितियों में ही कोई व्यक्ति अनुमान कर सकता है -

(१) पहले से कुछ ज्ञात हो।

(२) ज्ञात और जिसे हम जानना चाहते हैं के बीच व्याप्ति या अविनाभाव संबंध हो।

इसी को कणाद ने और अधिक स्पष्ट रूप से कहा है कि देखने के बाद ही अनुमान संभव है। मिल के द्वारा दी गई

परिभाषा अनुमान की संपूर्ण पृष्ठभूमि पर प्रकाश नहीं डालती है। यह सिर्फ इतना बताती है कि आगमन-पद्धति को अपनाकर हम अनुमान कैसे कर सकते हैं।

जैन परंपरा

अनुमान का प्राचीन रूप - जैन विद्वानों ने ऐसा माना है कि अनुमान का प्रारंभिक रूप अभिनिबोध ज्ञान में मिलता है। तत्त्वार्थ सूत्र में यद्यपि उमास्वाति ने अनुमान की चर्चा नहीं की है फिर भी उनके द्वारा प्रतिपादित अभिनिबोध से अनुमान का संकेत मिलता है। अकलंक, विद्यानंद, श्रुतसागर आदि जैनाचार्यों के मत में इस धारणा को समर्थन प्राप्त है। अकलंक की उक्ति है - चिंता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः। इससे इसकी पुष्टि होती है कि प्राचीनकाल में अनुमान अभिनिबोधरूप में ही था।

अनुमान का प्रचलित रूप - अनेक जैनाचार्यों ने अपनी-अपनी रचनाओं में स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से अनुमान के विवेचन किये हैं जिन्हें विस्तारपूर्वक यहाँ प्रस्तुत करना संभव नहीं है, किन्तु प्रमुख चिंतकों के विचार को जानना-समझना तो सर्वथा आवश्यक है।

समन्तभद्र - आप्तमीमांसा समन्तभद्र की प्रसिद्ध रचना है। उसमें यद्यपि उनके द्वारा दी गई अनुमान की कोई परिभाषा तो उपलब्ध तो नहीं है फिर भी उनकी बहुत सी सूक्तियाँ मिलती हैं जिनमें किसी न किसी रूप में अनुमान की झलक मिलती है। उनके संबंध में डा. कोठिया ने स्पष्टतः लिखा है--जिन उपादानों से अनुमान निष्पन्न एवं संपूर्ण होता है उन उपादानों का उल्लेख भी उनके द्वारा इसमें किया गया है। उदाहरणार्थ - हेतु, साध्य, प्रतिज्ञा, सधर्मा, अविनाभाव, सपक्ष साधर्म्य, वैधर्म्य, दृष्टान्त जैसे अनुमानोपकरणों का निर्देश इसमें (आप्तमीमांसा में) किया गया है^{१७}।

सिद्धसेन दिवाकर - जैन-न्याय में अनुमान की स्पष्ट परिभाषा सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर की रचना में मिलती है। उन्होंने अनुमान को इन शब्दों में प्रतिपादित किया है^{१८} -

साध्याविनाभुवो लिङ्गात्साध्यनिश्चायकं स्मृतम्।
अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्॥

अर्थात् साध्य के बिना न होने वाले लिङ्ग से साध्य के संबंध में निश्चित जानकारी देने वाला जो ज्ञान है उसे ही अनुमान कहते हैं। वह अनुमान प्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष की तरह

अभ्रान्त होता है यानी उसमें किसी प्रकार की भ्रान्ति या आशंका नहीं रहती है। इसीलिए अनुमान को साध्य-निश्चयक भी कहते हैं। न्यायावतार के हिन्दी अनुवादक पं. विजयमूर्तिजी ने लिखा है अनुमान की परिभाषा में 'साध्याविनाभु' अर्थात् साध्य के बिना न होने वाले विशेषण को लाकर आचार्य ने दूसरे वादियों के द्वारा प्रणीत लिङ्ग के लक्षणों का निराकरण किया है^{१९}।

अकलंक - जैन न्याय के प्रतीक अकलंक ने अनुमान को परिभाषित करते हुए कहा है^{२०} - साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्...। अर्थात् साधन से साध्य के विषय में जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। यह ज्ञान लिङ्ग ग्रहण और व्याप्तिस्मरण के बाद होता है। चूँकि यह ज्ञान अविशद होता है इसलिए परोक्ष माना जाता है। किन्तु अपने विषय में यह अविशवादी है तथा संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपों का निराकरण करने में समर्थ होता है, इसलिए इसे प्रमाण की कोटि में स्थान प्राप्त होता है^{२१}। लघीयस्त्रय में अकलंक ने कहा है--

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्
लिङ्गधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्ध्यः।

साध्य का वह ज्ञान जो साध्य-अविनाभूत लिङ्ग के द्वारा प्राप्त होता है उसे अभिनिबोध या अनुमान कहते हैं और हान आदि ज्ञान उसके फल होते हैं। यहाँ भी अनुमान के प्राचीन नाम पर प्रकाश पड़ता है।

विद्यानन्द - प्रमाण संबंधी अपनी प्रसिद्ध रचना प्रमाण-परीक्षा में अनुमान को परिभाषित करते हुए विद्यानन्द ने कहा है^{२२} -

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।

इस परिभाषा में मात्र अकलंक के द्वारा दी गई अनुमान की परिभाषा की पुनरावृत्ति है। किन्तु अकलंक के विचार को ही वे तत्त्वश्लोकवार्तिक में प्रस्तुत करते हैं तो उनके कथन से अकलंक के मत का पिष्ट-पेषण ही नहीं होता है बल्कि उसमें उनके अपने भी विचार व्यक्त होते हैं^{२३} -

साध्यभावासम्भवनियम लक्षणात् साधनादेव शक्याभिप्रेता
प्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानम् आचार्या विदुः।

आचार्य का कथन है कि उस साधन से जो साध्य के अभाव में संभव नहीं है, के द्वारा होने वाला शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध साध्य का विज्ञान ही अनुमान है। ये आचार्य यानी

अकलंक के वचन हैं, इसे विद्यानंद स्वीकार करते हैं। किन्तु इन वचनों का विवेचन वे अपने ढंग से करते हैं और यह घोषित करते हैं कि साधनज्ञान तथा साध्यज्ञान में समग्रता का भाव होना चाहिए। अर्थात् साधन और साध्य में सब तरह से संबंधत हो तभी अनुमान सही हो सकता है। प्रकारता की दृष्टि से साधन और साध्य में एकता होनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार का साध्य हो उसी प्रकार का साधन होना चाहिए और जिस प्रकार का साधन हो उसी प्रकार का साध्य भी होना चाहिए^{२५}।

माणिक्यनन्दी - इन्होंने भी अकलंक का ही अनुगमन किया और कहा है^{२६} -

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१०॥ अर्थात् साधन से साध्य के विषय में प्राप्त ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

इस कथन में कोई नवीनता दिखाई नहीं पड़ती है किन्तु विवेचनकर्ता ने इसमें कुछ अपनी विशेषता एवं सार्थकता दिखाने का प्रयास किया है--यदि अनुमान का लक्षण यह किया जाता कि प्रमाण से जो विज्ञान होता, वह अनुमान है तो आगम आदि से व्यभिचार आता है, अतः उसके निवारण के लिए साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा। फिर भी प्रत्यक्ष से व्यभिचार आता, अतः उसके निवारणार्थ साधन से यह पद दिया है। इस प्रकार लिङ्ग से साध्यरूप लिङ्गी का जो ज्ञान होता है, उसे प्रमाण कहते हैं। जैसे धूम देखकर अग्नि का ज्ञान करना।^{२६}

हेमचंद्र - इन्होंने प्रमाणमीमांसा में कहा है -

साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥

इसका विवेचन करते हुए वे आगे कहते हैं....दृष्टादुपदिष्टाद्वा साधनात् यत् साध्यस्य विज्ञानम् सम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेति अनुमानम् लिङ्गग्रहणसंबंधस्मरणयोः पश्चात् परिच्छेदनम् ॥७॥

वह अर्थात् साध्य का वह सम्यगर्थ निर्णायक ज्ञान जो अपने द्वारा देखे हुए अथवा अन्य व्यक्ति के कहे हुए साधन के आधार पर होता है, उसे अनुमान कहते हैं। जिससे अनुमिति हो वह अनुमान है, यानी साधन के प्राप्त होने पर तथा अविनाभाव संबंध के याद आने के बाद होने वाला विज्ञान ही अनुमान के नाम से जाना जाता है।

धर्मभूषण तथा यशोविजय - इन लोगों ने भी क्रमशः न्यायदीपिका तथा जैनतर्कभाषा में अनुमान-संबंधी विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत किए हैं। इन लोगों के विचार भी अपने पूर्वगामी आचार्यों की तरह ही है।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि अनुमान को परिभाषित करने वाले आचार्यों की एक लंबी कतार है, किन्तु सबने बारी-बारी से अकलंक के द्वारा दी गई परिभाषा को ही परिष्कृत करने का भरपूर प्रयास किया है।

यदि अनुमान के मूलरूप को देखें तो न्याय आदि जैनतर परंपराएँ तथा जैनपरंपरा में भी साधन, साध्य और अविनाभाव संबंध से ही अनुमान का निर्माण होता है।

अवयव - अवयव क्या है? इसके सामान्य अर्थ होते हैं--अंग, अंश आदि। अनुमान के क्षेत्र में भी इसके ये ही अर्थ होते हैं। जिनके सहयोग से अनुमान निरूपित होता है, उसे अवयव कहते हैं। वात्स्यायन ने अवयव को परिभाषित करते हुए कहा है^{२७} साधनीयार्थस्य यावतिशब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयाः प्रतिज्ञादयः समूहापेक्षयाऽवयवा उच्यते। अर्थात् जो साधनीय अर्थ है उसे निश्चित करने के लिए शब्दसमूह के रूप में वाक्यों का प्रयोग करना आवश्यक होता है तथा प्रतिज्ञादि जिन वाक्यों के आधार पर साध्य की सिद्धि होती है, उन्हें समूह की अपेक्षा से अवयव कहते हैं।

अनुमान के अवयवों की संख्या के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत मिलते हैं--

न्यायसूत्र^{२८} - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन।

न्यायभाष्य - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, जिज्ञासा, संशय, शक्य, प्राप्ति, प्रयोजन तथा संशयव्युदास।

वैशेषिक भाष्य^{२९} - प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान तथा प्रत्याम्नाय।

सांख्य^{३०} - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन। आचार्यमाठर कभी तीन, कभी पाँच अवयवों के प्रयोग।

मीमांसा - पक्ष, हेतु, उदाहरण तथा उपनय। किन्तु शालिकानाथ, नारायणभट्ट, पार्थसारथि आदि कुछ मीमांसक तीन ही अवयव मानते हैं--प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत^{३१}।

वेदान्त^{३२} - उदाहरण तथा उपनय।

बौद्धदर्शन - दिङ्नाथ आदि प्रारंभिक विचारक^{३३} - पक्ष, हेतु तथा दृष्टांत किन्तु धर्मकीर्ति तथा उनके बाद वाले उदाहरण एवं उपनय^{३४}।

जैनमत - अवयव पर प्रकाश डालते हुए डा. मेहता ने लिखा है^{३५} - अवयव का अर्थ होता है-दूसरों को समझाने के लिए जो अनुमान का प्रयोग किया जाता है, उसके हिस्से। किस ढंग से वाक्यों की संगति बैठानी चाहिए? अधिक से अधिक कितने वाक्य होने चाहिए? कम से कम कितने वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए, इत्यादि बातों का विचार अवयवचर्चा में किया जाता है।

आगमों से अनुमान के अवयव के संबंध में कोई जानकारी नहीं प्राप्त होती है। अवयवों की संख्या तथा प्रयोग के विषय में आचार्य भद्रबाहु की उक्ति है^{३६}--कत्थइ पंचावयवयं दसहा वा सव्वहा ण पडिकुत्थंति। वे मानते थे कि आवश्यकता के अनुसार दो से लेकर तीन, पाँच तथा दस तक अवयवों की संख्या हो सकती है-

दो-प्रतिज्ञा तथा उदाहरण।

तीन--प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण।

पाँच-प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टांत, उपसंहार, निगमन।

(क) दस--प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टांत, दृष्टांतविशुद्धि, उपसंहार, उपसंहारविशुद्धि, निगमन और निगमन-विशुद्धि।

(ख) दस--प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविभक्ति, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टांत, आशंका, तत्प्रतिषेध और निगमन।

इन अवयवों के प्रयोग के विषय में जैन विचारक ऐसा मानते हैं कि जो व्यक्ति विवेकी हैं, उन्हें समझाने के लिए दो, मन्द बुद्धि वालों के लिए दस तथा सामान्य लोगों को समझाने के लिए पाँच अवयवों के प्रयोग की आवश्यकता होती है^{३७}।

प्रतिज्ञा (पहन्ना) - जिसे हम सिद्ध करना चाहते हैं, उसे साध्य कहते हैं और साध्य के प्रथम निर्देश के लिए प्रतिज्ञा शब्द आता है। प्रतिज्ञा को जानते ही हमारा उद्देश्य प्रकाशित हो जाता है। इस साध्यनिर्देश के लिए दूसरा नाम पक्ष भी है। पर्वत में

अग्नि है, यह प्रतिज्ञा के रूप में जाना जाता है। महर्षि गौतम ने प्रतिज्ञा को परिभाषित करते हुए कहा है^{३८} - साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। जिसके द्वारा साध्य का उल्लेख हो उसे प्रतिज्ञा कहते हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है^{३९} -

साध्याभ्युपगमः पक्षः प्रत्यक्षाधिनिराकृतः।
तत्प्रयोगोऽत्र कर्त्तव्यो हेतोर्गोचरदीपकः॥१४॥

जिसका प्रत्यक्षादि से निराकरण संभव नहीं है ऐसे साध्य को ग्रहण करना, मान्यता देना पक्ष है। ऐसे पक्ष का प्रयोग परार्थानुमान के संदर्भ में अपेक्षित है, क्योंकि यह हेतु का दीपक यानी प्रकाशक होता है।

पक्ष के संबंध में माणिक्यनंदी की उक्ति है^{४०} -
साध्यधर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मो॥२१॥

पक्ष इति यावत्॥२२॥

अनुमान में कभी तो धर्म साध्य होता है और कभी धर्म विशिष्ट धर्मो। उस धर्मो को ही पक्ष कहते हैं।

जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नहीं होती है। वहाँ धूम नहीं होता। इसमें अग्निरूप धर्म साध्य है। इस पर्वत में अग्नि है, क्योंकि वह धूमवाला है। जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इसमें अग्नि रूप धर्म से विशिष्ट पर्वत (कभी) साध्य है। आचार्य हेमचन्द्र ने गौतम की तरह ही सरल और संक्षिप्त रूप में कहा है^{४१} -

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा--जिस वाक्य से साध्य का निर्देश होता है, उसे प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु (हेऊ)-लक्षण-वैशेषिक-सूत्र में कणाद ने कहा है-
हेतुपरदेशोलिङ्गप्रमाणकरणमित्यनर्थान्तरम्॥१९/२/४

अर्थात्, हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण, करण के अर्थ में कोई अंतर नहीं है। ये पर्यायवाची हैं, ऐसा समझा जा सकता है। अपदेश के विषय में उनकी उक्ति है^{४२} -

‘प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य।’

अर्थात् - अपदेश प्रसिद्धिपूर्वक होता है। प्रसिद्धि से मतलब है व्याप्ति। इससे यह ज्ञात होता है कि अपदेश व्याप्तिपूर्वक होता है। जिसमें प्रसिद्ध या व्याप्ति नहीं होती है उसे अनपदेश

कहते हैं^{४३} - अप्रसिद्धोऽनपदेशः। हेतु के लक्षण के संबंध में गौतम ने कहा है^{४४}--उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात्। अर्थात् उदाहरण के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के द्वारा साध्य को प्रमाणित करना हेतु है। इसके आधार पर हेतु को दो तरह के प्रयोगों में देखा जाता है--साधर्म्य तथा वैधर्म्य।

सिद्धसेन दिवाकर ने हेतु के लक्षण का निरूपण करते हुए कहा है^{४५} -

‘अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्।’ अन्यथानुपपन्नत्व अर्थात् साध्य के बिना उपपन्न न होना हेतु का लक्षण है।

विद्यानन्द ने भी हेतुसंबंधी न्यायदर्शन की मान्यता को खण्डित करते हुए कहा है^{४६}--अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं पंचभिः कृतम्।

नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं पंचभिः कृतम्।।

जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व न हो वहाँ पर पंचरूपता व्यर्थ है। इस उक्ति से यह स्पष्ट होता है कि विद्यानन्द ने भी अन्यथानुपपन्नत्व को ही हेतु का लक्षण माना है। इसी तरह अन्य जैनाचार्यों ने भी हेतु के संबंध में विचार किए हैं। किन्तु हेमचन्द्र ने हेतु को बहुत ही सरल ढंग से समझाया है। उनके अनुसार हेतु की परिभाषा इस प्रकार है^{४७}--साधनत्वाभिव्यञ्जकाविभक्त्यन्तं साधनवचनं हेतुः -२/१२ वह साधन कथन जिसके अंत में साधनत्व को व्यक्त करने वाली विभक्ति लगी हो उसे हेतु कहते हैं। यहाँ समस्या आती है कि वैसी कौन-कौन सी विभक्तियाँ हैं ? इसके उत्तर में वे पुनः कहते हैं^{४८}--साधनत्वाभिव्यञ्जिकाविभक्तिः पञ्चमी, तृतीया, वा तदन्तम् साधनस्य उक्तलक्षणस्य वचनम् हेतुः। साधनत्व को व्यक्त करने वाली विभक्तियाँ पंचमी और तृतीया होती हैं। इनके साथ समाप्त होने वाले साधन वाचक वचन हेतु होते हैं। हिन्दी में ऐसी अभिव्यक्ति क्योंकि, चूँकि आदि शब्दों के सहयोग से होती है। उस पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वह धूमयुक्त है। साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति नहीं होती है, वह हेतु नहीं हो सकता है।

हेतु का स्वरूप - न्याय दर्शन में हेतु को पाँच रूपों वाला माना गया है^{४९} - पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व।

पक्षधर्मत्व - हेतु के धर्म के जो पक्ष में रहता है उसे पक्षधर्मत्व कहते हैं। पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने के

कारण। पर्वत में धूम है अतः वह पक्षधर्मत्व से युक्त है। धर्म नहीं रहने पर जो हेत्वाभास होता है उसे असिद्धहेत्वाभास कहते हैं।

सपक्षसत्व - हेतु या लिङ्ग के लिए सपक्ष में रहना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि पक्ष में रहना। हेतु सभी सपक्षों में रहे अथवा किसी एक सपक्ष में, किन्तु उसका रहना जरूरी है। पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से जैसे महानस आदि।

विपक्षासत्व - हेतु का पक्ष एवं सपक्ष में रहना ही उसे सार्थक नहीं बनाता बल्कि विपक्ष में उसका अभाव होना चाहिए। साध्य जहाँ-जहाँ नहीं हो वहाँ-वहाँ हेतु को भी नहीं रहना चाहिए। जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ-वहाँ धूम नहीं है जैसे तालाब।

अबाधितविषयत्व - बाधितविषय से समझना चाहिए बाधित साध्य। हेतु का साध्य जब प्रत्यक्ष अथवा आगम से बाधित होता है तब उसे बाधितविषय कहते हैं। अग्नि शीतल है कृतक होने से। यहाँ प्रत्यक्ष से अग्नि की शीतलता बाधित है। अतः कृतक हेतु नहीं माना जा सकता। किन्तु जब कहते हैं कि पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से तो यह प्रत्यक्षादि से बाधित नहीं होता।

असत्प्रतिपक्षत्व - हेतु का विरोधी जब विद्यमान रहता है, तब उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। सत्प्रतिपक्षता के कारण हेतु सार्थक नहीं हो सकता। अतः उसे असत्प्रतिपक्ष होना चाहिए। जब कहते हैं कि पर्वत अग्नियुक्त है, धूमयुक्त होने से तो ऐसी कोई भी जगह नहीं होनी चाहिए जो धूमयुक्त तो हो पर अग्नियुक्त नहीं हो।^{५०}

बौद्धदर्शन - बौद्धाचार्य अर्चट ने न्याय द्वारा प्रतिपादित हेतु के पाँच रूपों में से प्रथम तीन को स्वीकार किया है तथा शेष दो को अनावश्यक बताया है।

पक्षसत्व - जहाँ अग्नि का संदेह है, पक्ष में धूम का अस्तित्व।^{५१}

सपक्षसत्व - अग्नि के अस्तित्व में धूम का अस्तित्व।

विपक्ष-असत्व - अग्नि जहाँ नहीं है वहाँ धूम नहीं है।

शेष दो के संबंध में बौद्धमत जो कहता है उसे महेन्द्र कुमार जैन के शब्दों में हम अच्छी तरह समझ सकते हैं।^{५२}

त्रैरूप्यवादी बौद्ध त्रैरूप्य को स्वीकार करके अबाधित विषयत्व को पक्ष के लक्षण से ही अनुगत कर लेते हैं, क्योंकि

पक्ष के लक्षण में प्रत्यक्षाद्यनिराकृत पद दिया गया है। अपने साध्य के साथ निश्चित त्रैरूप्य वाले हेतु में समबल वाले किसी प्रतिपक्षी हेतु की संभावना ही नहीं की जा सकती, अतः असत्प्रतिपक्षत्व अनावश्यक हो जाता है।

जैन दर्शन - बौद्धचिंतक धर्मकीर्ति, अर्चट आदि ने न्याय तथा मीमांसा दर्शनों में हेतु के छह रूपों के प्रतिपादन की बात कही है^{५३} -

षड्लक्षणे हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते...।

ये षड्लक्षण इस प्रकार हैं--(१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) अबाधितविषयत्व, (५) विपक्षितैकसंख्यत्व तथा (६) ज्ञातत्त्व। किन्तु इन षड्लक्षणों के विषय में किसी प्रकार की मान्यता, जैसा कि डा. कोठिया की राय है, न्याय तथा मीमांसा दर्शनों में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती^{५४}। उसी तरह से जैनाचार्य वादिराज ने हेतु के षड्लक्षणों को प्रस्तुत किया है^{५५}। (१) अन्यथानुपपन्नत्व (२) ज्ञातत्त्व (३) अबाधितविषयत्व, (४) असत्प्रतिपक्षत्व तथा (५,६) पक्षधर्मत्वादि। यहाँ डा. कोठिया ने कहा है कि वादिराज ने यह स्पष्टतः प्रकाशित नहीं किया है कि ये षड्लक्षण किनके द्वारा प्रतिपादित हैं^{५६}।

वास्तव में जैन तर्क में हेतु के एक ही रूप को माना गया है। वह है अविनाभाव। अविनाभाव = अ + विनाभाव।

विनाभाव = किसी के अभाव में किसी का अस्तित्व।

अविनाभाव - किसी के अभाव में किसी के अस्तित्व का निषेध जैसे अग्नि के अभाव में धूम के अस्तित्व का निषेध।

यदि अविनाभाव संबंध है साधन और साध्य के बीच तो अनुमान के लिए अन्य किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं होती है। अविनाभाव के अभाव में त्रैरूप्य भी हेतु नहीं बन सकता और यदि अविनाभाव है तो त्रैरूप्य के न रहने पर भी हेतु का निरूपण हो जाता है। इसके लिए निम्नलिखित उदाहरण दिए जाते हैं-

(१) त्रैरूप्य के अभाव में भी हेतु - एक मुहूर्त के बाद शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिका का उदय है। कृत्तिका के उदय के बाद शकट का उदय होता है, यह निश्चित है। यद्यपि कृत्तिका के उदय होने तथा शकट के उदय होने में कोई भी त्रैरूप्य नहीं बनता फिर भी यहाँ अविनाभाव संबंध है, जिसके आधार पर अनुमान बनता है।

(२) त्रैरूप्य होने पर भी हेतु का अभाव -
(क) गीता का वह पुत्र जो अभी गर्भ में है, श्याम रंग का होगा।
(ख) क्योंकि वह गीता का पुत्र है।
(ग) जो भी गीता के पुत्र हैं वे श्याम रंग वाले हैं।

यहाँ वे तीन रूप हैं जिन्हें बौद्ध विचारकों ने मान्यता दी है, किन्तु गीता का पुत्रत्व जिसे हेतु माना जा रहा है वह अभी गर्भ में है। श्याम होने का आधार गीता का पुत्रत्व ही है। अतः त्रैरूप्य होने पर भी अविनाभाव के न रहने से हेतु का निरूपण नहीं हो सकता। विद्यानंद ने बौद्धतर्क में प्रतिपादित अनुमान का खण्डन करते हुए स्पष्ट कहा है^{५७} -

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

नान्यर्थानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।।

विद्यानंद से पूर्व सिद्धसेन दिवाकर, पात्रस्वामी, अकलंक आदि जैनाचार्यों के द्वारा इस मत को समर्थन प्राप्त हुआ है, तथा विद्यानंद के परवर्ती जैन-चिंतकों ने भी मात्र अविनाभाव को ही हेतु रूप में स्वीकार किया है। हेतु त्रिरूप या पंचरूप किसी भी अवस्था में हो, किन्तु अविनाभाव के न रहने पर वह हेतु कहलाने के योग्य नहीं होता।

हेतु के प्रकार -

वैशेषिक - इस दर्शन में हेतु के पाँच प्रकारों को मान्यता मिली है^{५८}। कार्य, कारण, संयोगी, समवायी तथा विरोधी। किन्तु अन्य जगहों पर हेतु के ये प्रकार बताए गए हैं^{५९} -अभूत, भूतका-भूत-अभूत का और भूत-भूत का।

न्याय - इसके संबंध में डा. शर्मा ने बड़े ही संक्षिप्त और सरल ढंग से विवेचन प्रस्तुत किया है--न्याय परंपरा में महर्षि गौतम ने हेतु के साधर्म्य और वैधर्म्य ये दो भेद प्रदर्शित किए हैं, जिसका समर्थन वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र एवं जयंत भट्ट आदि सभी दार्शनिकों ने किया है। उदयन ने उद्योतकर - प्रणीत अनुमान भेद निरूपण में प्रयुक्त हेतु के अन्वयी, व्यतिरेकी एवं अन्वयव्यतिरेकी इन तीन भेदों को आधार मानकर इसके तीन भेद प्रस्तुत किए हैं--(१) केवलान्वयी हेतु (२) केवलव्यतिरेकी हेतु तथा (३) अन्वयव्यतिरेकी हेतु। बाद में सभी नैयायिकों ने इनका ही अनुकरण किया है^{६०}।

बौद्ध - धर्मकीर्ति ने हेतु के तीन प्रकारों को प्रस्तुत किया है ^{६१} - (१) स्वभाव (२) कार्य तथा (३) अनुपलब्धि।

स्वभाव - यह अग्नि है। क्योंकि यह उष्ण है। इसमें अग्नि साध्य है जिसे सिद्ध होने के लिए उष्णता की अपेक्षा है अथवा अग्नि का स्वभाव है। अतः ऐसे हेतु को स्वभाव हेतु कहते हैं।

कार्यहेतु - यहाँ अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम है। इसमें साध्य अग्नि है और धूम हेतु है। किन्तु धूम अग्नि से पैदा होता है। अतः साध्य से उत्पन्न होने वाले हेतु को कार्यहेतु कहते हैं।

अनुपलब्धिहेतु - जो हेतु उपलब्धि को न बताकर अनुपलब्धि को बताए उसे अनुपलब्धिहेतु कहते हैं। किन्तु यह उसकी अनुपलब्धि बताता है जिसमें उपलब्धि की योग्यता है, अर्थात् जो वस्तु उपलब्धि-लक्षण प्राप्त है। घट में उपलब्धि लक्षण है फिर भी इसकी अनुपलब्धि ज्ञात होती है तो जिस कारण से अनुपलब्धि ज्ञात हो रही है उसे अनुपलब्धिहेतु कहते हैं। प्रमाणवार्तिक में अनुपलब्धि के चार विभाग बताए गए हैं-- (१) विरुद्धोपलब्धि (२) विरुद्धकार्योपलब्धि (३) कारणानुपलब्धि तथा (४) स्वभावानुपलब्धि। परंतु न्यायबिंदु में इनके अलावा और सात भेद बताए गए हैं जो इस प्रकार हैं-- (१) स्वभावविरुद्धोपलब्धि (२) कार्यानुपलब्धि (३) विरुद्धव्याप्तोपलब्धि (४) व्यापकविरुद्धोपलब्धि (५) कारणविरुद्धोपलब्धि (६) कार्यविरुद्धोपलब्धि (७) कारण विरुद्धकार्योपलब्धि ^{६२}।

जैनमत - स्थानाङ्गसूत्र में हेतु के चार प्रकार बताए गए हैं ^{६३}--(१) विधि-विधि (२) निषेध-निषेध (३) विधि-निषेध और (४) निषेध-विधि--

विधि-विधि - हेतु और साध्य दो के ही सद्भाव रूप हों तो उसे विधि-विधि हेतु कहते हैं, जैसे-यहाँ अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम है।

निषेध-निषेध - जब साध्य और साधन दोनों के ही असद्भाव रूप हों तब उस हेतु का निषेध-निषेध रूप होता है। जैसे-यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि यहाँ अग्नि नहीं है।

विधि-निषेध - साध्य का सद्भाव तथा साधन का असद्भाव रहने पर हेतु विधि-निषेध कहा जाता है। राम रोग ग्रस्त है, क्योंकि उसमें स्वस्थ चेष्टा का अभाव है।

निषेध-विधि - साध्य का असद्भाव और साधन का सद्भाव हो तो हेतु निषेध-विधि के रूप में समझा जाता है। जैसे - यहाँ उष्णता है, क्योंकि शीतलता नहीं है।

षट्खण्डागम - इसके मूल सूत्र में हेतु के भेद-प्रभेद आदि की कोई चर्चा नहीं मिलती है। किन्तु इसके व्याख्याकार वीरसेन ने हेतुवाद (जिसका उल्लेख षट्खण्डागम में प्राप्त होता है) का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि हेतु के दो भेद होते हैं --(१) साधन-हेतु तथा (२) दूषण-हेतु ^{६४}।

सिद्धसेन दिवाकर - हेतु के दो प्रकार एवं प्रयोग के संबंध में सिद्धसेन दिवाकर की निम्नलिखित उक्ति हैं ^{६५} -

हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति ॥१७॥

अर्थात् हेतु के दो प्रकार हैं--(१) तथोपपत्ति--साध्य के होने पर ही होना।

(२) अन्यथानुपपत्ति - साध्य के अभाव में कभी भी न होना इन भेदों का स्पष्टीकरण न्यायावतार के भाष्यकार सिद्धर्षिगणि के द्वारा होता है। वे इनके लिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ^{६६} -

तथोपपत्ति - यहाँ अग्नि है, धूम की अग्नि के द्वारा ही उत्पत्ति होने से।

अन्यथानुपपत्ति - यहाँ अग्नि है, क्योंकि अग्नि के अभाव में धूम की उत्पत्ति संभव नहीं है।

अकलंक - अकलंक ने मुख्य रूप से हेतु के दो ही भेद बताए हैं--विधि और निषेध अर्थात् उपलब्धि और अनुपलब्धि। पुनः उन्होंने उपलब्धि तथा अनुपलब्धि के छह-छह भेद किए हैं--

उपलब्धि-(१) स्वभावोपलब्धि (२) स्वभाव-कार्योपलब्धि (३) स्वभावकारणोपलब्धि (४) सहचरोपलब्धि (५) सहचरकार्योपलब्धि तथा (६) सहचरकारणोपलब्धि।

अनुपलब्धि-असद्व्यवहारसाधक - (१) स्वभावानुपलब्धि, (२) कार्यानुपलब्धि, (३) कारणानुपलब्धि (४) स्वभावसहचरानुपलब्धि (५) सहचरकारणानुपलब्धि और सहचरकार्यानुपलब्धि।

सद्व्यवहारनिषेधक -(१) स्वभावविरुद्धोपलब्धि (२) कार्यविरुद्धोपलब्धि (३) कारणविरुद्धोपलब्धि।

माणिक्यनन्दी - अकलंक के द्वारा प्रतिपादित हेतु तथा उसके विभागों का स्पष्टीकरण माणिक्यनन्दी ने किया। उन्होंने हेतु को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया है^{६८}-उपलब्धि तथा अनुपलब्धि। पुनः दोनों के दो-दो भेद किए गये।

उपलब्धि के दो भेद - (१) अविरुद्धोपलब्धि और (२) विरुद्धोपलब्धि।

अनुपलब्धि के दो भेद - (१) अविरुद्धानुपलब्धि और (२) विरुद्धानुपलब्धि।

इतना ही नहीं बल्कि इन भेदों के प्रभेदों की भी माणिक्यनन्दी ने प्रतिष्ठा की। उन्होंने कहा^{६९}-

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा-व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तर सहचरभेदात् ॥५५॥ अर्थात् अविरुद्धोपलब्धि के छह भेद हैं-

(१) अविरुद्धव्याप्योपलब्धि - शब्द परिणामी है, क्योंकि वह कृतक है।

(२) अविरुद्धकार्योपलब्धि - इस शरीरधारक प्राणी में बुद्धि है, क्योंकि वचन आदि बुद्धि के कार्य हैं।

(३) अविरुद्धकारणोपलब्धि - वे उसमें हैं, यहाँ छाया है, चूँकि यहाँ छत्र है।

(४) अविरुद्धपूर्वचरोपलब्धि - एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय होगा, चूँकि इस समय कृत्तिका उदित है।

(५) अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि - एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय हो चुका है, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय है।

(६) अविरुद्धसहचरोपलब्धि - मातुलिङ्ग अर्थात् विजौरा रूपवान है, क्योंकि रसवान है।

विरुद्धोपलब्धि - इसके विषय में माणिक्यनन्दी ने कहा है ^{७०} -

विरुद्धतदुपलब्धिप्रतिषेधे तथा ॥६७॥

अर्थात् विरुद्धोपलब्धि के भी छह प्रकार होते हैं--

(१) विरुद्धव्याप्योपलब्धि - यहाँ शीतलता नहीं है कारण यहाँ उष्णता है।

(२) विरुद्धकार्योपलब्धि - यहाँ शीतलता नहीं है कारण यहाँ धूप है।

(३) विरुद्धकारणोपलब्धि - इस व्यक्ति में सुख नहीं है कारण हृदय में घाव है।

(४) विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि - एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय होना संभव नहीं है कारण अभी रेवती का उदय हो रहा है।

(५) विरुद्धोत्तरचरोपलब्धि - एक मुहूर्त पहले भरणी का उदय नहीं हुआ है, पुष्य के उदय हो जाने से।

(६) विरुद्धसहचरोपलब्धि - इस दीवार में उस ओर के भाग का अभाव नहीं है, क्योंकि इस ओर का भाग दिखाई पड़ रहा है।

अविरुद्धानुपलब्धि^{७१} - अविरुद्धानुपलब्धिः - प्रतिषेधे सप्तधा - स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तर सहचरानुपलम्भभेदात् ॥७४॥

अर्थात् जो प्रतिषेध (अभाव) को सिद्ध करती है उस अविरुद्धानुपलब्धि वेद सात प्रकार हैं--(१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि--इस भूतल पर घट नहीं होगा, क्योंकि वह अनुपलब्धि है, यद्यपि उसमें उपलब्धि लक्षण है।

(२) अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि - यहाँ शीशम नहीं है, क्योंकि यहाँ वृक्ष अनुपलब्धि है।

(३) अविरुद्धकार्यानुपलब्धि - यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य रखने वाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम अनुपलब्धि है।

(४) अविरुद्धकारणानुपलब्धि - यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं है।

(५) अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि--एक मुहूर्त के बाद रोहिणी का उदय संभव नहीं है, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं हुआ है।

(६) अविरुद्धोत्तरचरानुपलब्धि--एक मुहूर्त पहले भरणी उदित नहीं हुआ है क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय नहीं है।

(७) अविरुद्धसहचरानुपलब्धि--इस तराजू का एक पलड़ा नीचा नहीं है, क्योंकि दूसरा पलड़ा ऊँचा नहीं है।

विरुद्धानुपलब्धि^{७२} --विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा-विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥८२॥

अर्थात् विरुद्धानुपलब्धि के तीन प्रकार हैं -

(१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि--यह व्यक्ति व्याधिग्रस्त है, क्योंकि इसकी चेष्टाएँ स्वस्थ जैसी नहीं हैं।

(२) विरुद्धकारणानुपलब्धि--इस व्यक्ति में दुःख है, क्योंकि इष्ट संयोग नहीं है।

(३) विरुद्धस्ववानुपलब्धि--वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्त स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। वादिदेवसूरि ने अकलंक और माणिक्यनंदी के हेतु संबंधी विचारों का समर्थन किया है, किन्तु माणिक्यनंदी ने विरुद्धोपलब्धि के छह तथा विरुद्धानुपलब्धि के तीन भेद किए हैं। और वादिदेवसूरि ने विरुद्धोपलब्धि का एक भेद स्वभावविरुद्धोपलब्धि अधिक तथा विरुद्धानुपलब्धि के दो भेद विरुद्धव्यापकानुपलब्धि तथा विरुद्धसहचरानुपलब्धि अधिक बताया है^{३३}।

आचार्य हेमचन्द्र ने कणाद, धर्मकीर्ति तथा विद्यानंद की तरह हेतुओं का विभाजन किया है, लेकिन इनके द्वारा किए गए वर्गीकरण में अनुपलब्धि विधि साधक रूप में नहीं है^{३४}। धर्मभूषण विद्यानंद के हेतु संबंधी विचारों से सहमत देखे जाते हैं^{३५}। यशोविजय का वर्गीकरण विद्यानंद, माणिक्यनंदी, देवसूरि और धर्मभूषण के वर्गीकरणों के आधार पर हुआ है। विशेषतः देवसूरि और धर्मभूषण का प्रभाव उस पर लक्षित होता है^{३६}।

दृष्टांत (दिडुंत) - न्यायसूत्रकार गौतम ने दृष्टान्त को परिभाषित करते हुए कहा है कि^{३७} - लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।

अर्थात् जिसमें लौकिक तथा परीक्षक की बुद्धि समान रूप से पाई जाए उसे दृष्टांत कहते हैं।

जयंत भट्ट ने लौकिक और परीक्षक के स्थान पर वादी तथा प्रतिवादी शब्दों के प्रयोग किए हैं, और उन्होंने वादीप्रतिवादी की समान बुद्धि के विषयभूत पदार्थ को दृष्टान्त कहा है^{३८}।

न्यायावतार के भाष्यकार सिद्धर्षिगणि ने कहा है कि जिसमें साध्य साधन रहे वह दृष्टांत है^{३९}। दृष्टांत के लिए उदाहरण तथा निदर्शन शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। इसीलिए हेमचन्द्र ने कहा है^{४०}--दृष्टांतवचनमुदाहरणम्।

अर्थात् दृष्टांतवचन उदाहरण है। दृष्टांत, उदाहरण तथा निदर्शन के प्रयोग सभी आचार्यों के द्वारा समान रूप से हुए हों ऐसा नहीं

देखा जाता। सिद्धसेन, दिवाकर ने दृष्टांत, अकलंक ने दृष्टांत और निदर्शन, माणिक्यनंदी ने दृष्टांत, निदर्शन और उदाहरण तथा हेमचंद्र ने दृष्टांत और उदाहरण के प्रयोग किए हैं।

दृष्टान्त के प्रकार - ब्राह्मण परंपरा के अक्षपाद ने दृष्टांत या निदर्शन के दो भेद माने हैं - साधर्म्य एवं वैधर्म्य^{४१}। इसी तरह जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने दृष्टांत के दो प्रकारों साधर्म्य और वैधर्म्य पर प्रकाश डाला है।^{४२} माणिक्यनंदी ने उन्हीं दृष्टांत के भेदों को अन्वय और व्यतिरेक के रूपों में व्यक्त किया है। इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने दृष्टान्त के प्रकारों को साधर्म्य तथा वैधर्म्य और आचार्य धर्मभूषण ने अन्वय व व्यतिरेक की संज्ञा दी है^{४३}।

दृष्टांत की सीमा - दृष्टांत की आवश्यकता को व्यक्त करते हुए आचार्य अकलंक ने यह कहा है कि सभी स्थलों पर दृष्टांत अनिवार्यतः प्रस्तुत किया ही जाए ऐसी बात नहीं देखी जाती है^{४४}। पदार्थों की क्षीणता सिद्ध करने में किसी पदार्थ को दृष्टांत के रूप में प्रस्तुत करना संभव नहीं है। यदि अमुक पदार्थ दृष्टांत के रूप में हमारे सामने है तो हम उसे क्षणिक कैसे कह सकते हैं। इससे यह जाहिर होता है कि दृष्टांत की आवश्यकता सीमित है। यह विषयवस्तु को स्पष्ट करने में सहायक है किन्तु सर्वत्र नहीं।

उपनय (उपसंहार) - साध्य का उपसंहार उपनय के नाम से जाना जाता है

उदाहरण की अपेक्षा से यह उपसंहार दो तरह से होता है। महर्षि गौतम ने जैसा प्रतिपादन किया है^{४५}। उपसंहार इस प्रकार होता है--'तथा इति' उसी प्रकार यह भी वैसा है अथवा न तथा, उसी प्रकार यह भी वैसा नहीं है। उपसंहार एक प्रकार का पुनर्कथन होता है। उपसंहार या उपनय में व्याप्ति उसी अनुपात में देखी जाती है जिस अनुपात में वह साध्य और साधन के बीच दृष्टांत में होती है। न्याय तथा वैशेषिकों दर्शनों में चूँकि पञ्च अवयवों को मान्यता मिली है, इसलिए उपनय भी उनमें आ ही जाता है। भट्ट-मीमांसकों ने अवयवों को दो प्रकार से उपयोगी साबित किया है--प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण तथा उदाहरण-उपनय-निगमन। यहाँ उपनय की स्थिति को इस प्रकार समझा जा सकता है--

उदाहरण - जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है जैसे-पाकगृह।

उपनय - वह पर्वत भी धुमयुक्त है।

निगमन - अतः पर्वत अग्नियुक्त है।

बौद्धपरंपरा के धर्मकीर्ति तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने उदाहरण और उपनय को तर्क में स्थान दिया है। धर्मकीर्ति ने भी उदाहरण तथा उपनय को हेतु के साधर्म्य तथा वैधर्म्य में ही अन्तर्निहित माना है^{८८}।

जैनपरंपरा में उपनय की चर्चा अकलंक के तर्कप्रतिपादन से देखी जाती है। उनके विचारों में उपनयादिसमम्^{८९} तो मिलता है, किन्तु उपनय का कोई स्पष्टीकरण नहीं होता है। माणिक्यनंदी ने बड़े ही सरल ढंग से उपनय को परिभाषित किया है--
हेतोरुपसंहारः उपनयः।^{९०}

अर्थात् पक्ष में हेतु की पुनरुक्ति उपनय है। प्रभाचंद्र ने उपनय का निरूपण करते हुए कहा है कि साध्यधर्मो यानी पक्ष में कोई विशेष हेतु जब अविनाभाव से दर्शित होता है उसे उपनय की संज्ञा दी जाती है^{९१}। उन्होंने उपनय को उपमान भी कहा है।

उपनयउपमानम् दृष्टान्तधर्मिसाध्यधर्मिणोः सादृश्यात् १२।।

उपनय के प्रकार -

उपनय के दो प्रकार माने जाते हैं--साधर्म्य तथा वैधर्म्य। जिससे यह व्यक्त होता है - 'वैसा ही यह है' उसे साधर्म्य कहते हैं और जिससे यह ज्ञातहोता है 'वैसा यह नहीं है' उसे वैधर्म्य कहते हैं। सिद्धसेन दिवाकर के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायावतार से यह ज्ञात होता है कि जिसका धर्म सदृश हो वह साधर्म्य तथा जिसका धर्म विसदृश हो वह वैधर्म्य होता है।

उपनय की उपयोगिता - जैनाचार्यों में ऐसे भी लोग हैं जो उपनय को उपयोगितारहित मानते हैं^{९२}। इस संबंध में वादिदेवसूरि ने स्पष्ट कहा है कि जब धर्मों में सिर्फ साध्य-साधन के कहने से ही साध्य निश्चित हो जाता है तब उपनय का प्रयोग तो सिर्फ दुहराना मात्र है। चूँकि ये उपनय और निगमन साध्य को प्रभावित करने में सक्षम नहीं है इसलिए प्रतिज्ञा और हेतु को अवयव में मान्यता मिलनी चाहिए^{९३}। अर्थात् उपनय और निगमन उपयोगी नहीं हैं।

निगमन (निगमण) महर्षि गौतम ने कहा है^{९४} -

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्।

अर्थात् हेतु के कथन द्वारा प्रतिज्ञा का उपसंहारवाक्य निगमन है। इसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण तथा उपनय को एकत्र करके सूत्रबद्ध करने की क्षमता होती है। निगमन के इस निरूपण को

उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र, जयंतभट्ट, भासर्वज्ञ आदि आचार्यों ने भी माना है। वैशेषिक-दर्शन के प्रशस्तपाद ने न्याय-दर्शन द्वारा प्रतिपादित पञ्चावयव को स्वीकार किया है किन्तु कुछ रद्दोबदल के साथ। उन्होंने जिन पञ्चावयवों को स्वीकार किया है। वे इस प्रकार हैं--प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान तथा प्रत्याम्नाय। जिसे गौतम ने निमगन कहा है उसी को प्रशस्तशाद ने प्रत्याम्नाय कहा है। मीमांसा-सूत्र और और शांकरभाष्य एवं कुमारिल तथा प्रभाकर के ग्रन्थों में अनुमान के स्वार्थ-परार्थ भेद उपलब्ध न होने के कारण अवयव-लक्षणों का स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया है^{९५}। चूँकि निगमन परार्थानुमान का अंतिम भाग होता है, इसलिए इसका प्रतिपादन मीमांसादर्शन में नहीं हुआ है ऐसा ही मानना चाहिए। बौद्ध-दर्शन के धर्मकीर्ति ने भी निगमन को कोई महत्त्व नहीं दिया है, बल्कि इसे असाधना कहा है^{९६}।

जैन-प्रमाण में निगमन का प्रारंभ माणिक्यनंदी से होता है। उन्होंने निगमन को परिभाषित करते हुए कहा है^{९७} -

'प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।' अर्थात्--प्रतिज्ञा का पुनर्कथन निगमन है। जो कुछ प्रतिज्ञा के रूप में हम घोषित करते हैं, उसी को निगमन के रूप में फिर स्पष्टतः प्रस्तुत करते हैं। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि जिस कथन की प्रतिज्ञा की जाती है उसे प्रमाणित करके निगमन की संज्ञा देते हैं। वादिदेवसूरि ने निगमन को इस प्रकार प्रकाशित किया है^{९८} -

साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम्। यथानस्मादग्निर्न।

अर्थात्, साध्य को दुहराना निगमन है। जो साध्य है, जिसको हम सिद्ध करना चाहते हैं, जिसे प्रमाणित करना चाहते हैं उसी को उपसंहार के रूप में दुबारा प्रस्तुत करना निगमन है। आचार्य हेमचन्द्र का मत भी माणिक्यनंदी के विचार से मिलता हुआ है^{९९}। प्रभाचंद्र ने कहा है कि प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण और उपनय को एकबद्ध करने वाला निगमन होता है^{१००}। यह उक्ति न्याय दर्शन से प्रभावित जान पड़ती है, क्योंकि न्यायभाष्य में भी निगमन को ऐसा बताया गया है। किन्तु अनन्तवीर्य ने निगमन के संबंध में इस प्रकार कहा है^{१०१} -

'प्रतिज्ञायाः उपसंहारः - साध्यधर्मविशिष्टत्वेनप्रदर्शनं'निगमनम्।'

निगमन प्रतिज्ञा का पुनर्कथन है इसमें कोई शक नहीं, किन्तु वह कथनविशेष रूप से प्रतिपादित होता है। निगमन के संबंध में डा. कोठिया की उक्ति इस प्रकार है^{१०२} -

ऐसा प्रतीत होता है कि अंतिम दो अवयवों पर जैन तार्किकों ने उतना बल नहीं दिया है। यही कारण है कि माणिक्यनंदी से पूर्व इन पर विवेचन प्राप्त नहीं होता।

शुद्धियाँ-विभक्तियाँ -

अवयवों की संख्या निर्धारित करते समय भद्रबाहु ने कहा है कि आवश्यकता को देखते हुए अनुमान में दो, तीन, पाँच तथा दस अवयवों का प्रयोग हो सकते हैं। किन्तु दस अवयवों के संबंध में भी उनका एक निश्चित विचार नहीं है। दस अवयवों के भी दो वर्ग हैं -

प्रथमवर्ग - प्रतिज्ञा	-	प्रतिज्ञाविशुद्धि
हेतु	-	हेतुविशुद्धि
दृष्टान्त	-	दृष्टान्तविशुद्धि
उपसंहार	-	उपसंहारविशुद्धि
निगमन	-	निगमनविशुद्धि

यहाँ प्रत्येक अवयव में विशुद्धि मिलाकर उसे एक से दो कर दिया गया है। यह विशुद्धि क्या है? और क्यों यह अवयवों के साथ लग जाती है? इन प्रश्नों के उत्तर में ऐसा यदि प्रतिज्ञा, हेतु आदि पंचावयवों के स्वरूप में कोई दोष हो, कोई आशंका हो तो उन्हें शुद्ध या विशुद्ध करने से ही सही रूप में अनुमान की प्रतिष्ठा हो सकेगी। अन्यथा अनुमान में दोष आने की आशंका होगी। इसलिए किसी भी अवयव का एक सामान्य रूप हो सकता है और दूसरा विशुद्ध रूप। ऐसा मान सकते हैं कि सामान्य रूप में दोष की आशंका रहती है किन्तु विशुद्ध रूप में किसी प्रकार का दोष या आशंका नहीं पाई जाती है।

दूसरावर्ग - प्रतिज्ञा	-	प्रतिज्ञाविभक्ति
हेतु	-	हेतुविभक्ति
विपक्ष	-	विपक्षप्रतिषेध
दृष्टान्त	-	दृष्टान्तविभक्ति
आशंका	-	आशंकाप्रतिषेध
निगमन-		निगमन विभक्ति।

अनुमान का आधार

अनुमान व्याप्ति तथा पक्षधर्मिता पर आधारित होता है।

व्याप्ति और पक्षधर्मिता को समझे बिना अनुमान का ज्ञान होना मुश्किल है। इसलिए इन दोनों के संबंध में विभिन्न आचार्यों के मतों को जानने का प्रयास करेंगे। व्याप्ति शब्द की उत्पत्ति वि + आप्ति से होती है। वि का अर्थ विशेष माना जाता है तथा आप्ति का प्रयोग संबंध के लिए होता है। विशेष संबंध उसे कहते हैं जो अपवादशून्य या व्याभिचाररहित होता है जैसे सूर्य और उसकी किरणों के बीच का संबंध। जब भी सूर्य होगा उसकी किरणें होंगी और किरणें होंगी तो सूर्य भी होगा। हेतु का पक्ष में पाया जाना पक्षधर्मता के नाम से जाना जाता है। पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि पर्वत पर धूम है। पर्वत है और चूँकि पर्वत पर धूम है इसलिए वहाँ भी अग्नि होगी ऐसा अनुमान किया जाता है। धूम का पर्वत पर होना ही पक्षधर्मता है। जहाँ व्याप्ति होती है वहाँ एक व्याप्य होता है और दूसरा व्यापक होता है।

व्युत्पत्ति के अनुसार वि पूर्वक अप् धातु से कर्म अर्थ में ण्यत् प्रत्यय करने पर व्याप्य तथा कर्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय करने पर व्यापक शब्द सिद्ध होता है। व्याप्ति क्रिया द्वारा जिस विषय की सिद्धि की जाती है, वह व्याप्य और जिसके द्वारा उसको व्याप्त किया जाता है, उसे व्यापक कहते हैं^{१०५}।

व्याप्ति का लक्षण

व्याप्ति के लिए अन्य शब्दों के प्रयोग भी हुए हैं। अतः व्याप्ति को समझने के लिए हमें उन्हीं शब्दों के संदर्भ में अध्ययन करना होगा।

वैशेषिकदर्शन - महर्षि कणाद ने व्याप्ति के लिए प्रसिद्धि शब्द को काम में लिया है। उनके अनुसार प्रसिद्धि के आधार पर ही हेतु अनुमति का बोधक होता है। यदि प्रसिद्धि न हो तो हेतु किसी काम का नहीं रह जाता। उन्होंने कहा है^{१०६} 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्या।' अर्थात् जो हेतु प्रसिद्धिपूर्वक है वही सद्हेतु है और उसी से ज्ञान होता है। यदि किसी हेतु में प्रसिद्धि नहीं है तो वह अनपदेश हो जाता है - 'अप्रसिद्धोऽनपदेशः।' अनपदेश से मतलब है हेत्वाभास। हेत्वाभास ज्ञानदायक नहीं होता है। वह आभासमात्र होता है, क्योंकि उसमें व्याप्ति नहीं होती है। इस तरह प्रसिद्धि और व्याप्ति समानार्थक शब्द हैं ऐसा ज्ञात होता है। सामान्य चिंतन के आधार पर भी हम ऐसा कह सकते हैं कि प्रसिद्धि उसी की होती है जिसमें व्यापकता होती है

और जिसमें व्यापकता होती है उसकी प्रसिद्धि होती है। श्रीधराचार्य के अनुसार-किसी एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ स्वभावतः जो संबंध अवधारित किया जाता है, वही उपाधिशून्य व नियत होने के कारण नियम अर्थात् व्याप्ति कहलाता है^{१६६}। इसका मतलब है कि व्याप्ति को उपाधिशून्य होना चाहिए किन्तु प्रश्न उठता है कि उपाधि क्या है? इसके संबंध में नव्यन्याय के गंगेश उपाध्याय का मत है कि जिससे व्याभिचार ज्ञान होता है वह उपाधि है। इसकी उपस्थिति में व्याप्ति की कोई निश्चित जानकारी नहीं हो सकती है। धूम और अग्नि के बीच संबंध बताया जाता है और धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। किन्तु धूम और अग्नि के बीच स्वाभाविक संबंध नहीं है। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होती है, किन्तु जहाँ अग्नि होती है, यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ धूम हो ही। गर्म लोहे में अग्नि तो होती है, किन्तु धूम नहीं होता है। यदि धूम और अग्नि में स्वाभाविक संबंध होता तो दोनों सर्वदा साथ रहते। धूम इसलिए होता है कि लकड़ी में गीलापन होता है। यह गीलापन ही धूम का कारण है अथवा अग्नि और धूम का संबंध बताने वाली उपाधि है।

मीमांसा - प्रभाकर के अनुसार दो वस्तुओं के बीच जो अव्यभिचारित एवं नियत कार्य-कारण-भाव संबंध होते हैं, उन्हीं को सद्हेतु या व्याप्ति कहते हैं।

सांख्य - व्याप्ति को परिभाषित करते हुए महर्षि कपिल ने कहा है^{१००} - नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्ति अर्थात् नियतधर्मसाहचर्य ही व्याप्ति है। अर्थात् साध्य और साधन के बीच पाया जाने वाला संबंध यदि नियत और व्यभिचार-रहित है तो उसी को व्याप्ति के नाम से जानते हैं।

योग - इस दर्शनपद्धति में व्याप्ति के लिए संबंध शब्द का प्रयोग हुआ है और वह संबंध क्या है उस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है^{१०८} - अनुमेयस्यतुल्यजातीयेस्वानुवृत्तौ भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबंधः अनुमेयः अर्थात् जिसका हम अनुमान कर रहे हैं, के साथ समान जाति में अनुवृत्ति तथा भिन्न जाति में व्यावृत्ति रखता हो उसे संबंध कहते हैं। अनुवृत्ति अनुकूलता को दर्शाती है तथा व्यावृत्ति प्रतिकूलता को। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्याप्ति स्वजातीय में अनुकूलता तथा विजातीय में प्रतिकूलता का बोध कराती है।

वेदान्त दर्शन - वेदान्त परिभाषा में व्याप्ति के संबंध में ऐसी उक्ति मिलती है^{१०९} - व्याप्तिश्चाशेषसाधनाश्रयाश्रिता साध्यसामानाधिकरण्यरूपा। इसमें तीन बातें प्रस्तुत की गई हैं - (१) साध्य के साथ हेतु के संबंध को व्याप्ति कहते हैं जो अशेष यानी सकल, साधनों में रहने वाला हो। इस तरह यह कहा जा सकता है कि सकल साधनों में रहने वाले साध्य के साथ हेतु का सामान्याधिकरण्य ही व्याप्ति है।

बौद्ध-दर्शन - दिङ्नाग ने सद्हेतु पर प्रकाश डाला है उसी से हेतु और साध्य के बीच देखी जाने वाली व्याप्ति की भी जानकारी हो जाती है। किन्तु कर्णगोमिनं व्याप्तिः को स्पष्टतः व्यक्त करने का प्रयास किया है। उन्होंने व्याप्ति के लिए अविनाभाव शब्द का प्रयोग किया है। एक के अभाव में दूसरे का भी अभाव अविनाभाव संबंध होता है, साध्य-धर्म के अभाव में कार्य स्वभाव लिङ्गों (चिन्हों) का न पाया जाना अविनाभाव या व्याप्ति है^{११०}। इसको यदि दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि साध्य के अभाव में साधन का अभाव या साधन के अभाव में साध्य का अभाव अविनाभाव है जिसे व्याप्ति या व्याप्ति का लक्षण मानते हैं।

जैन-दर्शन - जैन प्रमाण में व्याप्ति के लिए अविनाभाव तथा अन्यथानुपपत्ति शब्द भी आए हैं। व्याप्ति के संबंध में माणिक्यनन्दी ने कहा है^{१११} - इयमस्मिन् सत्येव भवत्यसति तु न भवत्येव।

यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च॥

अर्थात् अमुक के होने पर ही अमुक होता है और नहीं होने पर नहीं होता है उसे अविनाभाव या व्याप्ति कहते हैं, जैसे अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के नहीं रहने पर धूम नहीं होता है। यदि साध्य के अभाव में साधन अथवा साधन के अभाव में साध्य हो तो दोनों में व्याप्ति नहीं हो सकती, भले ही उसका आभास क्यों न ज्ञात हो। देवसूरि ने व्याप्ति को त्रिकोणवर्ती कहा है अर्थात् यह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों ही के लिए होती है। ऐसा नहीं देखा जाता कि कोई व्याप्ति भूतकाल में तो थी किन्तु वर्तमान में नहीं है अथवा वर्तमान में है किन्तु भविष्य में इसके होने की आशा नहीं है। व्याप्ति के संबंध में आचार्य हेमचंद्र के विचार को डा. कोठिया ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में रखा है - व्याप्ति, व्याप्य और व्यापक दोनों का

धर्म है। जब व्यापक (गम्य) का धर्म व्याप्ति विवक्षित हो तब व्यापक का व्याप्य के होने पर होना ही व्याप्ति है और जब व्याप्य (गमक) का धर्म व्याप्ति अभिप्रेत हो तब व्याप्य का व्यापक के होने पर ही होना व्याप्ति है^{११३}। धर्मभूषण ने व्याप्ति को सर्वोपसंहावती कहा है अर्थात् व्याप्ति सर्वदेशिक तथा सर्वकालिक होती है। यदि यह कहा जाता है कि जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है तो धूम के साथ अग्नि का भी होना सभी देश एवं सभी काल के लिए होता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आज धूम के होने पर अग्नि है और कल धूम के होने पर भी अग्नि नहीं होगी। यह भी मान्य नहीं है कि वाराणसी में तो धूम के साथ अग्नि है, किन्तु प्रयाग में धूम के बिना अग्नि नहीं देखी जा सकता है। तात्पर्य है कि व्याप्ति देश और काल की सीमाओं के अंतर्गत नहीं आती है।

व्याप्ति ग्रहण

न्याय-दर्शन में व्याप्तिग्रहण का आधार प्रत्यक्ष को माना गया है। प्रत्यक्ष से लिङ्ग दर्शन होता है फिर लिङ्ग और लिङ्ग संबंध का बोध होता है उसके बाद लिङ्गस्मृति होती है। इस तरह से अनुमान होता है यह (लिङ्ग-लिङ्गी) संबंधदर्शन ही व्याप्ति-दर्शन है। वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति-ग्रहण के लिए अन्वय तथा व्यतिरेक को महत्त्व दिया गया है। यानी अन्वय और व्यतिरेक के माध्यम से ही कोई व्यक्ति व्याप्ति को समझ सकता है। सांख्य-दर्शन में व्याप्ति-ग्रहण के लिए प्रत्यक्ष को आधार माना गया है। अनुकूल तर्क से भी व्याप्ति जानी जा सकती है ऐसा विज्ञानभिक्षु मानते हैं। मीमांसादर्शन के प्रभाकर ने माना है कि जिस प्रमाण से साधन-संबंध विशेष ग्रहण होता है उसी प्रमाण से साधन का व्याप्ति संबंध भी जाना जाता है। धूम और अग्नि के संबंध का प्रत्यक्षीकरण ही दोनों के बीच पाई जाने वाली व्याप्ति पर भी प्रकाश डाल देता है। इसे असकृद्दर्शन कहते हैं, यही व्याप्तिग्रहण होता है। वेदान्त-दर्शन में भी व्याप्तिग्रहण के माध्यम के रूप में प्रत्यक्ष को ही स्वीकार किया गया है। बौद्धदर्शन के धर्मकीर्ति ने यह माना है कि व्याप्तिग्रहण करने के दो मार्ग हैं--तदुत्पत्ति तथा तादात्म्य। कारण कार्य संबंध को तदुत्पत्ति कहते हैं तथा व्याप्यव्यापक संबंध को तादात्म्य। जैन-दर्शन के प्रमाण-व्यवस्थापक अकलंक ने तर्क को ही व्याप्ति-ग्राहक माना है। डा. कोठिया के शब्दों में^{११३}

अकलंक के इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष और अनुपलम्भपूर्वक सर्वदेश और सर्वकाल के उपसंहाररूप अविनाभाव (व्याप्ति) का निश्चय करने वाला ज्ञान तर्क है और वह प्रमाण है। तर्कशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत है, क्योंकि यह सन्निहित असन्निहित, नियत-अनियत, देशकाल में रहने वाले साध्य-साधन के अविनाभाव को अपना विषय बनाता है^{११४}। अकलंक के बाद में आने वाले जैनाचार्य जैसे विद्यानंद, माणिक्यनन्दी, प्रभा चन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र, धर्मभूषण आदि सभी उन्हीं का समर्थन करते हैं। ये लोग भी तर्क को ही व्याप्ति को ग्रहण करने वाला मानते हैं।

व्याप्ति के प्रकार - अन्वय व्याप्ति व्यतिरेक व्याप्ति - व्याप्ति के इस विभाजन पर सर्वप्रथम प्रशस्तपाद ने बल दिया है^{११५}। साधन और साध्य के बीच की अनुकूलता या भावात्मक रूप को अन्वय व्याप्ति कहते हैं और साधन साध्य की प्रतिकूलता या अभावात्मक रूप को व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति के इस वर्गीकरण को जयन्त भट्ट, गंगेश, केशव मिश्र आदि तथा बौद्ध-दर्शन के धर्मकीर्ति, अर्चट आदि ने मान्यता दी है।

समव्याप्ति-विषमव्याप्ति - दो के बीच समान व्याप्ति रहती है, उसे समव्याप्ति रहती है जैसे अभिधेय तथा ज्ञेय के बीच समव्याप्ति पाई जाती है। जो अभिधेय है वह ज्ञेय है और जो ज्ञेय है वह अभिधेय है। धूम और अग्नि के बीच विषमव्याप्ति है, क्योंकि धूम के रहने पर अग्नि होती है, परंतु सभी परिस्थितियों में अग्नि के रहने पर धूम नहीं होता। मीमांसादर्शन के कुमारिल ने व्याप्ति का ऐसा विभाजन किया है।

तथोपपत्तिव्याप्ति तथा अन्यथानुपपत्ति - व्याप्ति का यह विभाजन जैन-तार्किकों के द्वारा हुआ है। तथोपपत्ति व्याप्ति वहाँ देखी जाती है जहाँ साध्य के रहने पर साधन देखा जाता है। किन्तु साध्य की अनुपस्थिति में ही साधन का पाया जाना अन्यथानुपपत्ति है। इसके अतिरिक्त जैन-तार्किकों ने एक और वर्गीकरण किया है, जिसके अंतर्गत ये सब नाम आते हैं--

बहिव्याप्ति--सपक्ष में जब साध्य और साधन के बीच व्याप्ति होती है, उसे बहिव्याप्ति कहते हैं।

सकलव्याप्ति--पक्ष तथा सपक्ष दोनों में ही साध्य और साधन के बीच देखी जाने वाली व्याप्ति को सकल व्याप्ति कहते हैं।

अन्तर्व्याप्ति--पक्ष, सपक्ष तथा हेतु के न रहने पर भी साध्य और साधन के बीच पाई जाने वाली व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति होती है।

अनुमान के प्रकार -

भारतीय प्रमाणशास्त्र में अनुमान के तीन वर्गीकरण मिलते हैं--(१) पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट।

(२) स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान।

(३) केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी।

इन वर्गों की मान्यता दर्शन की किसी खास शाखा तक ही सीमित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक ही शाखा के कुछ आचार्य प्रथम वर्गीकरण को मानते हैं, तो अन्य कुछ द्वितीय या तृतीय विभाजन को अंगीकार करते हैं।

न्याय दर्शन - न्याय सूत्रकार गौतम ने अनुमान के भेद पर विचार करते हुए कहा है^{११६} - अथं तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्वच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टम् अर्थात् अनुमान के तीन भेद हैं--पूर्ववत्, आकाश में बादल को देखकर वर्षा होने का अनुमान करना। शेषवत्-नदी की बाढ़ को देखकर ऐसा अनुमान करना कि वर्षा हुई है। सामान्यतोदृष्ट--एक साथ पाई जाने वाली दो वस्तुओं में से किसी एक को देखकर दूसरी का अनुमान करना, जैसे किसी पशु के सींग को देखकर उसकी पूँछ का अनुमान करना।

भासवर्ग, केशव मिश्र आदि ने अनुमान को स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के रूप में विभाजित किया है। जब हम स्वयं कुछ समझने के लिए अनुमान करते हैं तो उसे स्वार्थानुमान (स्व + अर्थ + अनुमान) कहते हैं और जब पर-उपदेश के लिए अनुमान करते हैं तो उसे परार्थानुमान (पर + अर्थ + अनुमान) कहते हैं।

उद्योतकर ने अनुमान का वर्गीकरण अन्वयी, व्यतिरेकी एवं अन्वय-व्यतिरेकी के रूप में किया है। इन्हीं तीन प्रकारों को उदयन ने केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी कहा है। जो अनुमान केवल अन्वय पर आधारित हो उसे केवलान्वयी कहते हैं, जो मात्र व्यतिरेक पर आधारित हो उसे केवलव्यतिरेकी तथा जो अन्वय और व्यतिरेक दोनों पर आधारित हो उसे अन्वय व्यतिरेकी कहते हैं। इसे गंगेश ने अच्छी तरह विवेचित किया है।

वैशेषिक-दर्शन - वैशेषिकसूत्र में अनुमान के प्रकारों पर प्रकाश नहीं डाला गया है। किन्तु प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में लिखा है^{११७}--तत्तुद्विविधम्। दृष्टं एवं सामान्यतोदृष्टं। अनुमान के दो भेद हैं--दृष्ट एवं सामान्यतोदृष्ट। प्रसिद्ध साध्य एवं अनुमेय इन दोनों में जातितः अत्यंत अभिन्न होने पर (सजातीय होने पर) जो अनुमान किया जाता है, दृष्ट अनुमान कहलाता है। हेतु के साथ पहले से ज्ञात रहने वाला साध्य प्रसिद्ध साध्य और जिस साध्य की सिद्धि अभी अभिप्रेत है वह अनुमेय कहा जाता है। जैसे पूर्व में किसी स्थान विशेष अर्थात् नगरनिष्ठ गाय में ही केवल सास्ना को देखकर अन्य किसी स्थान अर्थात् वन में सास्ना को देखने के पश्चात् गायविषयक जो प्रतीति (अनुमिति) होती है वह दृष्ट अनुमान है^{११८}।

व्योमशिव आदि आचार्यों ने स्वनिश्चयार्थ (स्वार्थानुमान) तथा परार्थानुमान निरूपित किए हैं। किन्तु सप्तपदार्थों में केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी की चर्चा मिलती है^{११९}।

मीमांसा - शबर स्वामी ने अनुमान के प्रकारों को बताते हुए प्रत्यक्षतो दृष्ट-संबंध तथा सामान्यतोदृष्ट-संबंध पर प्रकाश डाला है। प्रभाकर ने अनुमान के जो दो भेद माने हैं, वे इस प्रकार हैं--दृष्टस्वलक्षण और अदृष्टस्वलक्षण।

सांख्य - सांख्यकारिका में कहा गया है^{१२०} - त्रिविधमनुमानमाख्यातम्। उसी के आधार पर आचार्य माठर ने बताया कि अनुमान के तीन प्रकार होते हैं--पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। सांख्यतत्त्वकौमुदी में पहले वीत और अवीत के रूप में अनुमान का विभाजन हुआ है फिर वीत के दो भेद किए गए हैं--पूर्ववत् तथा सामान्यतोदृष्ट।

वेदान्त - वेदान्तपरिभाषा में अनुमान के दो भेद बताए गए हैं--स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। इसी को अर्थदीपिका में कहा गया है कि जो अनुमान अपनी समस्या को सुलझाने में सहायक होता है वह स्वार्थानुमान तथा जो अन्य की समस्या को सुलझाने में सहायक होता है, वह परार्थानुमान है।

बौद्धदर्शन - दिङ्नाग ने अनुमान को दो प्रकारों में विभाजित किया है--स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। धर्मकीर्ति के द्वारा भी इस विभाजन को समर्थन प्राप्त है। असंग ने अनुमान

को पाँच प्रकार का बताया है--

(१) लिङ्ग पर आधारित अनुमान, जैसे धूम से अग्नि का अनुमान।

(२) स्वभाव पर आधारित अनुमान, जैसे-एक चावल को देखकर हंडे के संपूर्ण चावलों के पकने का अनुमान।

(३) कर्म पर आधारित अनुमान, जैसे-सूँघने से नाक का अनुमान।

(४) गुण पर आधारित अनुमान, जैसे-अनित्य वस्तु से दुःख का अनुमान।

(५) कार्य कारण पर आधारित अनुमान--जैसे अधिक भोजन से पेट भरने का अनुमान या पेट भरने से अधिक भोजन खाने का अनुमान।

जैन-दर्शन - अनुयोगद्वारसूत्र^{१२१} में अनुमान के प्रकारों का विवेचन करते हुए कहा गया है अनुमान तीन प्रकार के होते हैं--पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत्--पहले से जाने हुए हेतु को देखकर जो अनुमान किया जाता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। इसे समझने के लिए सूत्रकार ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है जिसमें पुत्र संबंधी एक माँ के द्वारा किया गया अनुमान विवेचित है--किसी माँ का पुत्र छोटी अवस्था में घर छोड़कर अन्य किसी स्थान पर चला गया और वह उस समय लौटा जब युवा हो गया था। किन्तु माँ अपने पुत्र की देह के विभिन्न चिन्हों को देखकर पहचान गई। उसने चिन्हों के आधार पर अनुमान करते हुए कहा--यह मेरा पुत्र है^{१२२}।

शेषवत् - उन दो पदार्थों में से किसी एक को देखकर दूसरे का अनुमान करना, जो एक-दूसरे से संबंधित होते हैं तथा साथ रहते हैं। शेषवत् अनुमान के पाँच प्रकार बताए गए हैं--

(क) कार्येण-अर्थात् कार्य को देखकर कारण का अनुमान करना ध्वनि से शंख का, ताडन से भेरी का, ढक्कित ध्वनि सुनकर बैल का, केकायित सुनकर मोर का, हिनहिनाना सुनकर घोड़े का, चिंघाड़ना सुनकर हाथी का तथा घणघणाना सुनकर रथ का अनुमान करना आदि कार्यतः अनुमान है।

(ख) कारणेन--कारण को देखकर कार्य का अनुमान करना। तन्तु को देखकर वस्त्र का अनुमान करना क्योंकि तन्तु वस्त्र कारण है, वस्त्र तन्तु का कारण नहीं है। मिट्टी के पिण्ड को

देखकर घट का अनुमान करना क्योंकि मिट्टी पिण्ड घट का कारण है। घट मिट्टी के पिण्ड का कारण नहीं है। इस तरह से बादल को देखकर वृष्टि का अनुमान करना, चंद्रमा के उदित होने से समुद्र में तूफान तथा सूर्य को उगते हुए देखकर कमल के खिलने का अनुमान आदि कारणतः अनुमान है।

(ग) गुणेन--गुण के आधार पर गुणी का अनुमान करना। कसौटी से स्वर्ण का बोध, गंध से फूल का बोध, रस से स्वाद का बोध, सुगंध से मदिरा का बोध, छूने से वस्त्र का बोध करना गुणतः अनुमान है।

(घ) अवयवेन--अवयव के आधार पर अवयवी का अनुमान करना। अवयव को देखकर अवयवी का या अंग को देखकर अवयवी का अनुमान करना। सींगों को देखकर भैंस का ज्ञान करना, चोटी को देखकर मुर्गे का, दाँतों को देखने के बाद हाथी का, दाढ़ देखकर सूअर का, मोर का पंख देखकर मोर का, खुर देखकर घोड़े का, नखों को देखकर बाघ का बोध करना आदि अवयवतः अनुमान है।

(ङ) आश्रितेन--आश्रित रहने वाली वस्तु को देखकर आश्रय का अनुमान करना, जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करना। ये सभी आश्रयतः अनुमान है।

दृष्टसाधर्म्यवत् - इसके दो प्रकार हैं -

(१) सामान्यतोदृष्ट--किसी एक व्यक्ति को देखकर उसके देश (तद्देशीय) के या उसकी जाति के अन्य लोगों का अनुमान करना सामान्यतोदृष्टानुमान है।

(२) विशेषतोदृष्ट--विशेष गुण को देखकर किसी व्यक्ति या वस्तु का अनुमान करना विशेषतोदृष्ट अनुमान है, जैसे अनेक व्यक्तियों में से किसी एक को अलग करके उसकी विशेषता पर प्रकाश डालना। कोई व्यक्ति जनसमूह में अपने मित्र को उसकी विशेषता के आधार पर पहचान लेता है।

काल के आधार पर अनुमान के भेद--इसके आधार पर अनुमान के तीन भेद किए गए हैं--

(१) अतीतकाल-ग्रहण, (२) प्रत्युत्पन्नकाल-ग्रहण तथा

(३) अनागतकाल-ग्रहण।

सिद्धसेन दिवाकर - इन्होंने कहा है ^{१२३}--जब व्यक्ति अपने ही समान दूसरे को भी निश्चय करवाता है तो उसे ही

विद्वान् लोग परार्थमान कहते हैं। यहाँ पर दो बातें कही गई हैं--
(क) स्वनिश्चय अर्थात् स्वयं को ज्ञान देना इसे स्वार्थानुमान कहा जाता है। (ख) परार्थमान अर्थात् परार्थानुमान का अर्थ है ज्ञान। आगे इन्होंने परार्थानुमान को परिभाषित किया है^{१२४} - उस हेतु का जो साध्य के अभाव में कभी भी नहीं होता, प्रतिपादन करने वाला वचन परार्थानुमान के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार सिद्धसेन ने अनुमान के दो प्रकारों पर प्रकाश डाला है।

अकलंक - अपने पूर्ववर्ती दार्शनिकों के द्वारा अनुमान भेद के संबंध में दिए गए विचारों का अकलंक ने खण्डन किया है। उन्होंने अनुमान के त्रिविध, चतुर्विध तथा पंच विध रूपों को गलत बताया है। क्योंकि उनमें अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्तिदोष देखे जाते हैं। अकलंक के विचार का अध्ययन करने के बाद डा. कठोटिया ने कहा है--निष्कर्ष यह है कि अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्ट ही एक हेतु अथवा अनुमान है। वह न त्रिविध है न चतुर्विध आदि। अतः अनुमान का त्रैविध्य और चातुर्विध्य उक्त प्रकार से अव्याप्त एवं अतिव्याप्त है। अकलंक के इस विवेचन से प्रतीत होता है कि अन्यथानुपपन्नत्व की अपेक्षा से हेतु एक ही प्रकार का है और तब अनुमान भी एक ही तरह का संभव है^{१२५}।

विद्यानन्द - विद्यानन्द के अनुसार अनुमान के तीन भेद हैं^{१२६} -

(क) वीतानुमान--वह अनुमान जो विधि रूप अर्थ का परिचायक है शब्द अनित्य है क्योंकि उत्पन्न होना इसका धर्म है।

(ख) अवीतानुमान--वह अनुमान जो निषेध रूप अर्थ का बोध कराता है जैसे जीवित शरीर को आत्मविहीन नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें प्राण का संचार होता है।

(ग) वीतावीतानुमान--जो विधि और निषेध दोनों ही रूपों में ज्ञान प्रदान करता है। वह पर्वत अग्नि युक्त है, निरग्नि नहीं है, क्योंकि धूमयुक्त है।

इसके अतिरिक्त विद्यानन्द ने अनुमान के त्रिविध रूपों-- पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट को अव्यापक मानते हुए चौथे अनुमान का भी प्रतिपादन किया है जिसे उन्होंने कारणकार्योभयानुमान की संज्ञा दी है। इसमें कारण से कार्य और कार्य से कारण का अनुमान किया जाता है--बीज और अंकुर। बीज कारण है और अंकुर कार्य, क्योंकि बीज से अंकुर

होता है। किन्तु अंकुर से ही आगे चलकर बीज भी बनता है। इसलिए बीज के आधार पर अंकुर तथा अंकुर के आधार पर बीज के अनुमान किए जा सकते हैं^{१२७}।

माणिक्यनन्दी - माणिक्यनन्दी^{१२८} ने अनुमान के दो भेदों को प्रकाशित किया है--

(क) स्वार्थानुमान--साधन के आधार पर साध्य के संबंध में ज्ञान कराने वाला जो अनुमान है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं।

(ख) परार्थानुमान--जो ज्ञान स्वार्थानुमान के विषयबोध का प्रतिपादन करने वाले वचनों से होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं।

वादिराज - वादिराज ने अनुमान का वर्गीकरण अपने ढंग से किया है। जो अन्य आचार्यों के द्वारा किए गए वर्गीकरणों से भिन्न है। पहले उन्होंने अनुमान को दो वर्गों में विभाजित किया है^{१२९} -

गौण - जो अनुमान के कारण होते हैं।

मुख्य - साधन और साध्य के अविनाभावी संबंध के आधार पर साध्य के संबंध में होने वाला ज्ञान।

पुनः गौण अनुमान को वादिराज ने तीन भागों में विभाजित किया है--स्मरण, प्रत्यभिज्ञा तथा तर्क। चूँकि ये अनुमान के कारण होते हैं, इसलिए इन्हें भी अनुमान कहा जा सकता है, किन्तु ये गौण अनुमान ही कहे जा सकते हैं, मुख्य अनुमान नहीं। इस संबंध में अन्य तार्किकों ने यह आशंका व्यक्त की है कि यदि स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को अनुमान मान लिया जाए, क्योंकि ये अनुमान के कारण हैं तो प्रत्यक्ष को भी अनुमान ही क्यों नहीं माना जाए। प्रत्यक्ष भी तो अनुमान का कारण है। इससे लगता है कि वादिराज द्वारा प्रतिपादित अनुमान का वर्गीकरण अन्य आचार्यों को स्वीकार्य नहीं है।

प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य, देवसूरि, हेमचन्द्र इन सभी ने अनुमान को स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के रूपों में ही विभाजित किया है^{१३०}। अनुमान के भेदों के संबंध में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है--

तद् द्विधा स्वार्थं परार्थं च।

स्वार्थस्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्^{१३१}।

इस विवेचन में स्वार्थानुमान के लक्षण में एक विशेष बात बड़ा दी गई है, वह है स्वनिश्चित। परार्थानुमान का लक्षण वही है, जो पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रतिपादित किया है।

अनुमानाभास - अनुमानाभास (अनुमान + आभास)
का अर्थ होता है दोषपूर्ण अनुमान। अनुमान का आभास हो किन्तु सही अर्थ में अनुमान न हो। जो अनुमान साध्य के विषय में गलत बोध कराए वही अनुमानाभास है। यह तब होता है जब अनुमान के आधार पर या अनुमान के अवयवों में दोष होता है। आधार की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा माना जा सकता है कि जब हेतु की व्याप्ति एवं पक्ष की पक्षधर्मता में दोष होता है तब अनुमानाभास होता है। अवयव की दृष्टि से विचार करने पर हम कह सकते हैं कि पञ्चावयव-प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन में जब दोष पाए जाएँगे तब अनुमानाभास होगा। इसमें आभास होने पर ही अनुमानाभास होता है। दोष होने पर प्रतिज्ञा- प्रतिज्ञाभास, हेतु-हेत्वाभास, दृष्टान्त-दृष्टान्ताभास, उपनय-उपनयाभास तथा निगम-निगमनाभास हो जाते हैं। इन सब की वजह से पूरा अनुमान ही अनुमानाभास हो जाता है। इनमें से कोई भी एक आभास यदि घटित होगा तो अनुमान सही नहीं हो सकता है।

वैशेषिक दर्शन - सामान्यतः अनुमान के पांच अवयव माने गए हैं किन्तु उनमें हेतु को अधिक प्रधानता दी गई है। इसलिए बहुत से दार्शनिकों ने अनुमानाभास पर विचार करते हुए केवल हेत्वाभास पर ही ध्यान दिया है। महर्षि कणाद ने भी प्रतिज्ञाभास, दृष्टान्ताभास आदि पर प्रकाश नहीं डाला है। उन्होंने सिर्फ हेत्वाभास का विवेचन किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से हेत्वाभास पर विचार करने वाले वे प्रथम व्यक्ति माने जाते हैं, क्योंकि उनसे पहले भारतीय न्याय शास्त्र में किसी ने हेत्वाभास पर विचार नहीं किया है। उन्होंने कहा है^{१३२}

“प्रसिद्धिपूर्वक त्वादपदेशस्य।”

जो हेतु प्रसिद्धि पूर्वक होता है यानी जिसमें व्याप्ति होती है, उसे ही अपदेश या सदहेतु कहते हैं। जिस हेतु में प्रसिद्धि नहीं होती या जिसकी प्रसिद्धि संदिग्ध होती है, उसे असद् या असिद्ध हेत्वाभास मानते हैं।^{१३३} इस प्रकार कणाद ने हेत्वाभास के तीन प्रकार माने हैं -

(१) अप्रसिद्ध - जिस हेतु की प्रसिद्धि न हो। कोई व्यक्ति गधे को दूर से देखकर कहता है - यह पशु अश्व है,

क्योंकि इसके सींग हैं। किन्तु सींग वाले अनेक ऐसे पशु होते हैं, जो अश्व नहीं होते। जैसे - गाय, भैंस आदि। अतः सींग वाला पशु अश्व होता है। ऐसी कोई प्रसिद्धि नहीं है, फिर तो अनुमान भी गलत है।

(२) असद् - जो हेतु असत् हो, जिसकी सत्ता न हो, जो सिद्ध न हो। यदि कोई गधे को अश्व कहता है, यह हेतु दिखाकर कि वह सींग वाला है, तो ऐसा हेतु सिद्ध भी नहीं है, क्योंकि गधे के सींग होता है, ऐसा किसी ने नहीं देखा है।

तो उसके द्वारा दिया गया हेतु संदिग्ध है। क्योंकि जितने भी सींग वाले पशु हैं, वे गाय ही नहीं होते। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि सींग वाले पशु गाय हैं।

न्याय दर्शन -

इस दर्शन में पांच प्रकार के हेत्वाभास माने गए हैं।^{१३४}

(१) सव्यभिचार - दो विरोधी वस्तुओं में हेतु का रहना व्यभिचार होता है। साध्य और साध्याभाव दो विरोधी पक्ष हैं। यदि हेतु किसी रूप में दोनों में बताया जाए, तो यह व्यभिचार होगा। व्यभिचार युक्त व्यवस्था या व्यभिचार वाले हेतु को सव्यभिचार कहते हैं।

(२) विरुद्ध - स्वीकार किए गए सिद्धान्त के विरोध में आने वाला हेतु विरुद्ध कहा जाता है।

(३) प्रकरणसम - “निर्णय के लिए, अपदिष्ट होने पर (कथन करने पर) भी, जिसमें प्रकरणचिन्ता बनी रहती है, उसे न्यायसूत्रकार ने प्रकरणसम कहा है।”^{१३५}

(४) साध्यसम - जो हेतु सिद्ध न हो बल्कि स्वयं साध्य की तरह ही साध्य हो उसे साध्यसम कहते हैं। शब्द भी बताता है (साध्य + सम) कि जो साध्य के बराबर हो।

(५) कालातीत - साधन और साध्य को एक ही काल में होना चाहिए। जो हेतु साध्य की सिद्धि के लिए उस समय प्रस्तुत किया जाए, जब उसका समय व्यतीत हो चुका हो, तो उसे ही कालातीत हेत्वाभास कहते हैं।

मीमांसा एवं वेदान्त - मीमांसासूत्र में हेत्वाभास की चर्चा नहीं मिलती। 'शांकरभाष्य' ने भी इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला है किन्तु कुमारिल के विमर्श में असिद्ध अनैकान्तिक एवं

बाध हेत्वभासों को देखा जाता है।^{१३६} वेदान्त दर्शन में न्याय दर्शन द्वारा प्रतिपादित हेत्वाभासों का खंडन प्राप्त होता है।^{१३७}

बौद्ध दर्शन - नागार्जुन ने हेत्वामास के आठ प्रकार बताए हैं -^{१३८} (१) वाक्छल, (२) सामान्यछल, (३) संशयसम, (४) कालातीत, (५) प्रकरणसम, (६) वर्ण्यसम, (७) व्यभिचार तथा (८) विरुद्ध।

असङ्ग के मत में हेत्वाभास दो हैं^{१३९} - अनिश्चित अथवा अनैकान्तिक तथा साध्यसम।

वसुबन्धु के अनुसार हेत्वाभास तीन हैं^{१४०} - असिद्ध, अनिश्चित तथा विरुद्ध।

जैन दर्शन -

समन्तभद्र जैनतर्क में हेत्वाभास की स्पष्ट व्याख्या तो सिद्धसेन दिवाकर की रचना में मिलती है किन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्य समन्तभद्र ने विज्ञानाद्वैत के खंडन के सिलसिले में प्रतिज्ञाभास तथा हेत्वाभास की चर्चा की है। उनके विचार को डॉ. कोठिया इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं^{१४१} -

“विज्ञप्तिमात्रता की सिद्धि यदि साध्य और साधन के ज्ञान से की जाती है, तो अद्वैत की स्वीकृति के कारण न साध्य संभव है और न हेतु, अन्यथा प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष प्राप्त होंगे।”

इससे यह कहा जा सकता है कि समन्तभद्र ने प्रतिज्ञादोष यानी प्रतिज्ञाभास तथा हेतु दोष यानी हेत्वामास को माना है।

सिद्धसेन दिवाकर -

सिद्धसेन दिवाकर ने तीन प्रकार के आभासों को मान्यता दी है और उनके विवेचन-विश्लेषण किए हैं - (१) पक्षामास (२) हेत्वाभास तथा (३) दृष्टान्ताभास।

पक्षामास - जो पक्ष के स्थान पर आता है किन्तु पक्ष का काम नहीं करता, जो पक्ष जैसा लगता है, उसे पक्षामास कहते हैं।

“प्रतिपाद्यस्य यः सिद्धः पक्षामासोऽक्षलिङ्गतः।

लोकस्ववचनाभ्याम् च बाधितोऽनेकधा मतः।।”^{१४२}

पक्षामास के दो प्रकार होते हैं - (१) प्रतिपाद्यसिद्ध पक्षामास तथा (२) बाधित पक्षामास। प्रतिवादी को सिद्ध होने वाला

प्रतिपाद्यसिद्ध पक्षामास है। जो पक्ष किसी कारण से बाधित हो जाए उसे बाधित पक्षामास कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं -

(१) प्रत्यक्षबाधित- जो प्रत्यक्ष से बाधित है। जैसे - स्वलक्षण निरंश है।

(२) अनुमानबाधित - जो अनुमान से बाधित है। जैसे - सर्वज्ञ नहीं है।

(३) लोकबाधित - जो लोक द्वारा बाधित है। जैसे - माता गम्य है।

(४) स्ववचनबाधित - जो अपने वचन के कारण बाधित है। जैसे - सब भाव नहीं हैं।

हेत्वाभास -

“अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोलक्षणमीरितम् ।
तत्प्रतीतिसंदेह विपर्यासैस्तदामता।।”^{१४३}

अन्यथानुपपन्नत्व हेतु का लक्षण है, अर्थात् साध्य के बिना उत्पन्न न होना किन्तु जब इस बात का अभाव होता है, यानी साध्य के न होने पर भी साधन या हेतु का होना हेत्वाभास होता है।

हेत्वाभास के तीन प्रकार हैं - असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैकान्तिक।

“असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते।

विरुद्धो योन्यथाप्यत युक्तोऽनैकान्तिकः स तु।।”^{१४४}

असिद्ध - जिसकी प्रतीति अन्यथानुपपन्नत्व से नहीं होती है।

विरुद्ध - जो साध्य के न होने पर ही उत्पन्न होता है, यानी विपक्ष में उत्पन्न होता है, उसे विरुद्ध कहते हैं।

अनैकान्तिक - साध्य तथा साध्यविपर्यय दोनों ही के साथ जो हो, उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।

दृष्टान्ताभास -

“साधर्म्येणात दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिता।

अपलक्षणहेतूत्याः साध्यादि विकलादयः।।”^{१४५}

जिन हेतुओं में हेतु के लक्षण नहीं हैं, उनसे उत्पन्न होने के कारण दृष्टान्त आभास हो जाता है। जो दृष्टान्त दोष साधर्म्य के द्वारा होता है उसे साधर्म्य दृष्टान्ताभास कहते हैं। इसके छह भेद होते हैं।^{१४६}

(१) साध्यविकल - अनुमान भ्रान्त है, क्योंकि प्रमाण है, जैसे - प्रत्यक्ष। यहाँ दृष्टान्त प्रत्यक्ष है। साध्य भ्रान्तता है। किन्तु भ्रान्तता प्रत्यक्ष में नहीं है। यदि प्रत्यक्ष भ्रान्त होगा, तो सभी प्रकार के व्यवहार रुक जाएँगे, क्योंकि न कोई प्रमाण होगा और न प्रमेय ही। अतः ऐसा दृष्टान्त दोषपूर्ण है। इसे साध्य - विकल कहते हैं। यह सकल नहीं है।

(२) साधनविकल - जागने की स्थिति का संवेदन भ्रान्त है, क्योंकि प्रमाण है। जैसे - स्वप्नसंवेदन। जाग जाने पर स्वप्नसंवेदन नहीं होता। इसलिए इसमें प्रमाणता साधन नहीं हो सकती है।

(३) उभयविकल - सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होता। घड़े की तरह इसलिए साध्य नहीं है। घड़ा प्रत्यक्ष से उपलब्ध है, इसलिए इसमें साधन नहीं है।

(४) संदिग्धसाध्यधर्म - जिसमें साध्य धर्म संदिग्ध हो। यह वीतरागी है, क्योंकि इसमें मृत्युधर्म है। जैसे राह पर चलने वाला पुरुष। यह संदिग्ध है कि राह पर चलने वाला व्यक्ति वीतरागी हो।

(५) संदिग्धसाधनधर्म - साधन धर्म की संदिग्धता जिसमें हो, यह व्यक्ति मरणशील है, क्योंकि रागयुक्त है, जैसे राह पर चलने वाला व्यक्ति। किन्तु राह पर चलने वाला वीतराग भी हो सकता है।

(६) संदिग्धोभयधर्म - जिसमें साध्य-साधन दोनों ही संदिग्ध हों। यह व्यक्ति असर्वज्ञ है, रागी होने से पथिक की तरह। किन्तु पथिक में साध्य-साधन दोनों ही संदिग्ध हैं।

“वैधर्म्येणात्र दृष्टान्तदोषा न्यायविदीरिताः।

साध्यसाधनयुग्मानामनिवृत्तेश्च संशयात् ॥”^{१४७}

वैधर्म्य दृष्टान्तामास तब बनता है, जब साध्य-साधन तथा साध्य-साधन दोनों के अभाव हों। ये दोष छह प्रकार के होते हैं -

(१) साध्यव्यतिरेकी - जहाँ साध्य का अभाव सिद्ध न हो सके।

(२) साधनव्यतिरेकी - जिसमें साधन का अभाव सिद्ध न हो।

(३) साध्य-साधनव्यतिरेकी - जहाँ न साध्य और न साधन किसी का अभाव प्रमाणित न हो।

(४) संदिग्धसाध्यव्यतिरेकी - साध्य का अभाव संशय युक्त हो।

(५) संदिग्धसाधनव्यतिरेकी - साधन के अभाव में संशय।

(६) संदिग्धसाध्यसाधनव्यतिरेकी - जहाँ साध्य तथा साधन के दोनों के ही अभाव संदिग्ध हों।

जब भी अनुमान संबंधी कोई विवेचन होता है, तब भारतीय परम्परा में न्याय दर्शन में व्याख्यायित अनुमान तथा पाश्चात्य परम्परा में ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित निगमन तर्क (Deductive Logic) के उल्लेख सामने आते हैं किन्तु जैन न्याय जिसे कभी-कभी अकलंक-न्याय के नाम से जाना जाता है, में विवेचित अनुमान आदि किसी से कम नहीं हैं। अनुमान मूलतः साध्य-साधन अविनाभाव संबंध पर आधारित होता है। इस बात से तो सभी सहमत देखे जाते हैं, लेकिन अनुमान की सरलता एवं स्पष्टता के लिए मान्य उसके विभिन्न अवयवों की संख्या के संबंध में मतैक्य नहीं पाया जाता है। किसी ने अवयवों की संख्या दो तो किसी ने तीन तो किसी ने पाँच बताई है। न्याय भाष्य में अवयवों की संख्या दस है। इस संबंध में जैन-अनुमान की अपनी विशेषता है। इसने अवयवों की संख्या दो, तीन, पाँच और दस मानी है और इसकी सार्थकता भी बताई है। जैन चिन्तकों के अनुसार बुद्धिमान व्यक्तियों के लिए दो तथा मंद बुद्धिवालों के लिये दस अवयवों की आवश्यकता होती है। बीच वाले यानी सामान्य लोगों को अनुमान के लिए तीन या पाँच अवयवों की ही आवश्यकता होती है। इस तरह अनुमान की उपयोगिता को सरल बनाने का प्रयास जैन-न्याय की अपनी विशेषता है।

सन्दर्भ

(१) जैनदर्शन-मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५९१

(२) न्यायसूत्र- १/१/५

(३) न्यायभाष्य- १/१/३

(४) न्या. वि.वि. भा. २/१

(५) जैनतर्कशास्त्र में अनुमान-विचार-पृष्ठ ९०

(६) वैशेषिकसूत्र-१/२/१

(७) तत्त्वचिन्तामणि- पृष्ठ २४

- (८) सांख्यसूत्र-१/१००
- (९) योगभाष्य-पृष्ठ ११ तथा
भारतीय-दर्शन में अनुमान-डॉ. बृजनारायण शर्मा, पृष्ठ २४
- (१०) मीमांसासूत्र, भाष्यकार-शबरस्वामी, पृष्ठ, ३६
- (११) वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ १५९
- (१२) आनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या-वेदान्त -
परिभाषा, पृष्ठ १६१
तथा भारतीयदर्शन, अनु. पृष्ठ २४
- (१३) प्रमाणवार्तिक-२/६२
- (१४) प्रमाण समुच्चय-अध्याय २ तथा
भारतीय दर्शन में अनुमान, डा. बृजनारायण शर्मा, पृष्ठ २६
- (१५) प्रमाणवार्तिक
- (१६) आधुनिक तर्कशास्त्र की भूमिका-डॉ. संकटाप्रसाद सिंह,
पृष्ठ १८६
- (१७) लघीयस्त्रये स्वो. कृति, कारिका-१०
- (१८) आप्तमीमांसा, कारिका १६-१९, २६, २७ आदि
तथा जैनतर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृष्ठ ९१
- (१९) न्यायावतार, कारिका-५
तथा न्यायावतार, अनु. पं. विजयमूर्ति शास्त्राचार्य, पृष्ठ ४९
- (२०) न्यायविनिश्चय, श्लोक १७० (द्वितीयः अनुमानप्रस्तावः)
- (२१) जैन-दर्शन, डा. महेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ २३४
- (२२) प्रमाणपरीक्षा, १०९ अनुमानस्य प्रामाण्य-निरूपणम्।
- (२३) श्लोकवार्तिक १/१३/१२९
- (२४) जैनतर्कशास्त्र में अनुमान, पृष्ठ ९४
- (२५) परीक्षामुख सूत्र-१०, तृतीयः समुद्देशः
- (२६) प्रमेयरत्नमाला, व्याख्याकार-पं. हीरालाल जैन, पृष्ठ १४०
- (२७) न्यायभाष्य, पृष्ठ ४७
- (२८) न्यायसूत्र, १/१/३२
- (२९) अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धान प्रत्याम्नायाः-
प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ ३३५
- (३०) पञ्चावयवयोगात्, सुखसंवित्तिः ५/२७ सांख्यसूत्र
- (३१) जैनतर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृष्ठ ४६
- (३२) वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ १८४-१८९
- (३३) न्याय प्रवेश, पृष्ठ १
- (३४) वही
- (३५) जैन-धर्म-दर्शन, डा. मोहनलाल मेहता, पृष्ठ ३०३
- (३६) दशवैकालिकनिर्युक्ति ५०
- (३७) जैन-धर्म-दर्शन, पृष्ठ ३२८
- (३८) न्यायसूत्र - १/१/३३
- (३९) न्यायावतार, कारिका-१४
- (४०) प्रमेयरत्नमाला, तृतीय समुद्देश
- (४१) प्रमाणमीमांसा-२/१/११
- (४२) वैशेषिक-सूत्र ३/१/१४
- (४३) वही - ३/१/१५
- (४४) न्यायसूत्र - १/१/३४-३५
- (४५) न्यायावतार, कारिका - २२
- (४६) प्रमाणपरीक्षा - ११६, ११७
- (४७) प्रमाणमीमांसा, द्वितीयोऽध्यायः
- (४८) १२वें सूत्र का विवेचन
- (४९) न्यायवार्तिक, पृष्ठ १४४-१४५
- (५०) प्रमाणवार्तिक - ३/२
- (५१) हेतुबिन्दुटीका, पृष्ठ २०४-२१३
- (५२) जैनदर्शन, डा. महेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ २४२
- (५३) हेतुबिन्दुटीका, पृष्ठ २०५
- (५४) जैनतर्कशास्त्र में अनुमान, पृष्ठ १९२
- (५५) न्यायविनिश्चयवृत्ति - २/१५५
- (५६) जैनतर्कशास्त्र में अनुमान, पृष्ठ १९४
- (५७) प्रमाणपरीक्षा, सम्पादक-डा. कोठिया, पृष्ठ ४९
- (५८) वैशेषिक-सूत्र १/२/१
- (५९) जैनदर्शन, डा. महेन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ २४५
- (६०) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ ५६
- (६१) प्रमाणवार्तिक-३/२
- (६२) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृ. ६३-६४

- (६३) स्थानांगसूत्र, पृष्ठ ३०९, ३१०
 (६४) भूतबली, पुष्पदन्त, षट्खण्डागम ५/५/५१
 तथा जैनतर्कशास्त्र में अनुमानविचार, पृष्ठ २०६, २०७
 (६५) न्यायावतार, कारिका-१७
 (६६) न्यायावतार, पृ. ७०
 (६७) प्रमाण-संग्रह, चतुर्थ प्रस्ताव, कारिका २९-३०
 (६८) प्रमेय-रत्नमाला, ३/५४, पृष्ठ १७८
 (६९) वही, ३/५५
 (७०) वही, ३/६७
 (७१) वही, ३/७४
 (७२) वही, ३/८२
 (७३) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ ६८
 (७४) प्रमाणमीमांसा १/२/१२ तथा
 जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृष्ठ २२०
 (७५) न्यायदीपिका, पृष्ठ ९५-९९
 (७६) जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृष्ठ २२०
 (७७) न्यायसूत्र १/१/२५
 (७८) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ २८०
 (७९) न्यायावतार, अनु. विजयमूर्ति शास्त्राचार्य, पृष्ठ ७१
 (८०) प्रमाणमीमांसा २/१/१३
 (८१) न्यायसूत्र - १/१/२५, १/१/३६, ३७
 (८२) न्यायावतार - १८
 (८३) वही - १९
 (८४) परीक्षामुख-१३/४७
 (८५) प्रमाणमीमांसा - १/२/२०-२३
 (८६) न्याय-दीपिका - ३८१
 (८७) न्यायसूत्र - १/१/३८
 (८८) जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान, पृ. ५५, १८२
 (८९) प्र.स., का. ५१, अकलंक ग्रन्थ, पृष्ठ १११
 (९०) परीक्षामुख - ३/५०
 (९१) प्रमेयकमलमार्तण्ड - ३/५०, पृष्ठ ३७७
 (९२) वही - ३/३७
 (९३) परीक्षामुख - ३/४०
 (९४) स्याद्वादरत्नाकर, पृष्ठ ६३
 (९५) न्यायसूत्र-१/१/३९
 (९६) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ २८५
 (९७) जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृष्ठ १८५
 (९८) परीक्षामुख-३/५१
 (९९) प्रमाणनयतत्त्वालोक - ३/५१-५२
 (१००) प्रमाणमीमांसा - २/१/१५
 (१०१) प्रमेयकमलमार्तण्ड - ३/५१
 (१०२) प्रमेयरत्नमाला - ३/४७
 (१०३) जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृष्ठ १८६
 (१०४) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ ७५
 (१०५) वैशेषिकसूत्र - ३/१/१४-१५
 (१०६) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ ८७
 (१०७) सांख्यसूत्र - ५/२९
 (१०८) योगभाष्य, पृष्ठ ११
 (१०९) वेदान्तपरिभाषा, पृष्ठ १७२
 (११०) कार्यस्य स्वभावस्य च लिङ्गस्थाविनाभावः साध्यधर्म-
 विना न भाव इत्यर्थः, भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ २२०
 (१११) परीक्षामुख - ३/१२, १३
 (११२) जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान, पृष्ठ १५१
 (११३) जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान, पृष्ठ १४८
 (११४) वही, पृष्ठ १४९
 (११५) प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ १०२
 (११६) न्यायसूत्र १/१/५
 (११७) प्रशस्तपादभाष्य, पृष्ठ ३०४
 (११८) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ २२९
 (११९) सप्तपदार्थी - ३४
 (१२०) सांख्यकारिका ५
 (१२१) अनुयोगद्वारसूत्र

- (१२२) माया पुत जहा नट्टं, जुवाणं पुणरागयं।
काई पच्चभिजाजेज्जा पुव्वलिंगेण केणई।।
- (१२३) न्यायावतार - १०
- (१२४) वही - १३
- (१२५) साधनं प्रकृतभावेऽनुपपन्नं ततो परे।
विरुद्धसिद्धसंदिग्धअकिंचित्करविस्तराः।
न्या.वि-२/१०१, १०२, पृष्ठ १०२, १२७
- (१२६) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक - १/१३/२०२ तथा
प्रमाणपरीक्षा, पृष्ठ २०८
- (१२७) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, १/१३/२०३, २०४
- (१२८) परीक्षामुख - ३/५२-५६
- (१२९) प्रमाणनिर्णय, पृष्ठ ३३, ३६
- (१३०) (क) प्रमेयकमलमार्तण्ड - ३/५२-५६
(ख) प्रमेयरत्नमाला - ३/४८-५२
(ग) प्रमाणनयतत्त्वालोक - ३/९, १०, २३
- (१३१) प्रमाणमीमांसा - १/२ ८, ९
- (१३२) वैशेषिकसूत्र - ३/१/१४
- (१३३) वैशेषिकसूत्र - ३/१/१५
- (१३४) न्यायसार, पृष्ठ ३५
- (१३५) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ ३३४ तथा
न्यायसूत्र - १/२/७
- (१३६) भारतीय दर्शन में अनुमान, पृष्ठ ३५३
- (१३७) खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ ३७५-७८
- (१३८) उपायहृदय, पृष्ठ १४-१७
- (139) Buddhist Logic before Dinnag, Page 480
- (140) Ibid, Page 481
- (१४१) जैन-तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृष्ठ २२६ तथा
साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ८०
आप्तमीमांसा
- (१४२) न्यायावतार - २१
- (१४३) वही - २२
- (१४४) वही - २३
- (१४५) न्यायावतार - २४
- (१४६) वही, पृष्ठ ८०
- (१४७) न्यायावतार - २५